# छायावादी काव्य की भाषिक-संवेदना

## (महादेवी वर्मा के विशेष संदर्भ में)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0 फिल0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
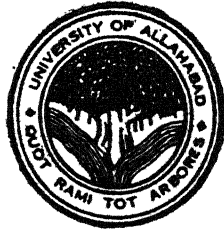
निर्देशक

**डॉ0 राम कमल राय**

हिन्दी-विभाग

**इलाहाबाद विश्वविद्यालय**

**इलाहाबाद**

प्रस्तुतकर्त्री

**संध्या राय**

शोध-छात्रा

हिन्दी-विभाग

**इलाहाबाद विश्वविद्यालय**

**इलाहाबाद**

**१९८९**

## अनुक्रमणिका

अध्याय- पृष्ठ संख्या-

# प्रथम अध्याय

## अध्ययन का परिप्रेक्ष्य

छायावादी काव्य के मूल्यांकन के तीसरे चरण में हम चल रहे हैं। सबसे पहले चरण में वे पाठक और आलोचक आते हैं जिन्होंने छायावादी काव्य को एक नये काव्य- आन्दोलन के रूप में पाया और देखा था। वे देखने, परखने और रस-ग्रहण करने की एक शैली और ढर्रा बन चुके थे। उन्हें छायावादी कविताओं की संवेदना और भाषा सभी बहुत अनुकूल नहीं लगती थीं। उन्हें छायावादी कविता का छन्द-मुक्ति अभियान, उनके नये बिम्ब- विधान और प्रतीक- योजनाएं तथा उनकी तथाकथित वायवीय संवेदना सभी कुछ अनाश्वस्तकारी लगते थे। इस चरण के प्रमुख समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल थे। उन्होंने छायावादी काव्य को मुख्यत: एक रहस्यवादी प्रवृत्ति के रूप में रेखांकित किया था और उसके नये भाषा - प्रयोगों को उनकी लाक्षणिकता के नाते जहां - तहां रेखांकित करते हुए भी उनकी व्यंजनाओं में अधिक गहराई तक उतरने की उदारता नहीं दिखाई थी।

दूसरे चरण के समीक्षकों में डा० नन्ददुलारे वाजपेयी को स्वीकार किया जा सकता है, जिन्होंने पूरी छायावादी काव्य-चेतना में एक नयी सांस्कृतिक पुनर्जागरण की अन्तर्निहित प्रवृत्तियों को पहचाना था और प्रसाद, निराला जैसे कवियों का अलग विशद् अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उनकी कविता के उचित महत्व को हिन्दी पाठकों के समक्ष प्रतिपादित किया था। डा० वाजपेयी की दृष्टि छायावादी काव्य के पूरे विस्तार को अपने सामने रखती थी और उनकी काव्य-चेतना के

विभिन्न पदार्थों को यथोचित महत्व देती थी, जिसमें छायावादी कविता की संवेदना और उसकी मार्मिक क्षमताओं का महत्वपूर्ण उद्घाटन हुआ था।

तीसरे चरण की शुरुआत डा० देवराज की प्रसिद्ध पुस्तक "छायावाद का पतन" से प्रारम्भ होती है। इस पुस्तक में डा० देवराज बड़े निर्णायक शब्दों में छायावादी काव्य की अप्रासंगिकता को रेखांकित करते हैं और उसे बीते हुए युग का काव्य घोषित करते हैं। ऐसा करते हुए उन्होंने जिस ठोस तर्क- प्रणाली का सहारा लिया है, उसका प्रभाव तत्कालीन हिन्दी समाज पर गहरा पड़ा है। डा० देवराज की दृष्टि कहीं से भी एकांगी नहीं है। बहुत बाद के अपने एक लेख में उन्होंने लिखा है-

" कविता या साहित्य में नयी शैलियां क्यों उगने लगती हैं? इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार से दिया जा सकता है- अथवा कई उत्तर दिये जा सकते हैं। एक, बहुत दिनों तक एक मार्ग या लीक में चलते- चलते पुरानी कविता रूढ़िग्रस्त एवं अरोचक हो जाती है, इसलिए; दूसरे, काव्यभाषा को जनभाषा के निकट लाने के लिए अथवा काव्य-निबद्ध अनुभूति को जनजीवन के सम्पर्क में लाने के लिए; तीसरे, बदले हुए जीवन की नयी संभावनाओं के उद्घाटन के लिए, अथवा नये मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए। नयी शैली का अर्थ है जीवन या अनुभव-जगत के नये पहलुओं को नयी दृष्टि से देखना और उन्हें नये चित्रों, प्रतीकों, अलंकारों द्वारा अभिव्यक्ति देना।"[1]

---

१- प्रयोगवादी कवि : एक चेतावनी : डा० देवराज, नयी कविता, पृ०-७

डा० देवराज की दृष्टि की व्यापकता और तर्क-संगतता स्वतः स्पष्ट है और जब उन्होंने इतनी व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि से देखते, परखते हुए भी छायावाद के पतन की बात रेखांकित की, तो उसे सहसा अनदेखा नहीं किया जा सकता था। इसके बावजूद उन्होंने छायावादी कवियों के व्यक्तित्व को लेकर अपनी प्रतिक्रिया बहुत सकारात्मक रूप में व्यक्त की है। अपने उसी लेख में डा० देवराज लिखते हैं-

व्यक्तित्व- सम्पन्न साहित्यकार का जीवन के कुछ क्षेत्रों से विशेष परिचय होता है, जिनका वह विशेष अन्वेषण- उद्घाटन करता है। उसकी अपनी निजी साधना और दृष्टि भी होती है। छायावाद के चार प्रमुख कवियों का अपना- अपना व्यक्तित्व रहा है- प्रत्येक का अपना विशिष्ट क्षेत्र और अपना सौन्दर्य- बोध। अपने विशिष्ट क्षेत्र में उनमें से प्रत्येक की उपलब्धि एक सीमा तक विशद् एवं प्रौढ़ हो सकी है।"[१]

ये बातें डा० देवराज ने प्रयोगवादी काव्य के परीक्षण के सिलसिले में कही हैं। इससे लगता है कि उन्होंने एक ऐसी दृष्टि विकसित की है, जो काव्य- युगों के परिवर्तन के साथ ही सहसा बदलती नहीं।

इस तीसरे चरण की आलोचना में डा० रघुवंश, अज्ञेय, प्रो० विजयदेवनारायण साही और डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी का नाम

---

१- प्रयोगवादी कवि : एक चेतावनी - डा० देवराज : नयी कविता, पृ०- ६

विशेष रूप से लिया जा सकता है। ये समीक्षक मुख्यतः प्रयोगवाद और नयी कविता से जुड़े हुए रहे हैं, परन्तु इनकी एक विशिष्टता समान रूप से सभी में दिखलाई पड़ती है और वह है इनकी काव्यभाषा सम्बन्धी दृष्टि। ये सभी समीक्षक कविता में भाषा और संवेदना को अलग करके देखने में विश्वास नहीं करते। उन्हें ऐसा लगता है कि भाषा में ही संवेदना अनुस्यूत होती है। भाषा पर हम केवल काव्य-शिल्प के रूप में विचार नहीं कर सकते, ऐसा अलगाव खतरनाक है और अपर्याप्त भी। अज्ञेय ने एक स्थान पर लिखा है-

"छायावादी के सम्मुख पहला प्रश्न अपने कथ्य के अनुकूल भाषा का- नयी संवेदना के नये मुहाविरे का- प्रश्न था। इस समस्या का उसने धैर्य और साहस के साथ सामना किया। उपहास और अवमानना से च्युत- संकल्प न होकर उसने अपनी बात कही और जो कुछ कहा, उसके सुचिन्तित कारण भी दिए। क्रमशः उसकी साधना सफल हुई और जो एक दिन उपहासास्पद समझे जाते थे, आज हिन्दी के गौरव माने जाते हैं। छायावादी कवियों ने भाव, भाषा, छन्द और मण्डन-शिल्प सभी को नया संस्कार दिया; छन्द, अलंकार, रस, ताल, तुक आदि को गतानुगतिकता से उबारा; नयी प्रतीक-योजना की स्थापना की। इस प्रकार काव्य की वस्तु और रूपाकार दोनों में गहरा परिवर्तन प्रस्तुत हुआ।"[1]

---

१- खड़ी बोली की कविता : पृष्ठभूमि- कवि दृष्टि : अज्ञेय, पृ०-४०

तो हम देखते हैं कि छायावादी काव्य-संवेदना से अलग होते हुए भी उसकी शक्ति के सम्बन्ध में एक स्वस्थ दृष्टि, जिसमें काव्यभाषा को लेकर एक नयी चेतना है, अज्ञेय प्रस्तुत करते हैं। अज्ञेय ने ` दूसरा-सप्तक ` की भूमिका में काव्यभाषा के प्रश्न पर गहराई से विवेचन प्रस्तुत किया है-

जब चामत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है, तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है। नहीं तो, अगर भाव भी वही जाने-पुराने हैं, रस भी, और संचारी-व्यभिचारी सबकी तालिकाएं बन चुकी हैं तो कवि के लिए नया करने को क्या रह गया है? क्या है जो कविता को आवृत्ति नहीं, सृष्टि का गौरव दे सकता है? कवि नये तथ्यों को उनके साथ नये रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर नये सत्यों का रूप दे, उन नये सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करें, यही नयी रचना है।"

साहित्य के मूल्यांकन को लेकर बहुत गहराई से डा० रघुवंश ने विचार किया है। उनका प्रसिद्ध लेख ` मूल्यगत संक्रमण और समीक्षा का मानदण्ड ` शीर्षक से ` आलोचना ` अंक- ७ में सम्पादकीय के रूप में प्रकाशित हुआ था, जिसमें उन्होंने साहित्य की समीक्षा के विभिन्न आयामों पर सम्यक् रूप से विचार किया है। उन्होंने प्रारम्भ में ही लिखा है-

" आज की स्थिति में जब हम यह कहते हैं कि साहित्य का दायित्व बढ़ गया है, उस समय यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसमें समीक्षा का प्रश्न भी अन्तर्निहित है। अन्ततोगत्वा साहित्य के मूल्यों की व्याख्या करना, पाठक को उन मूल्यों के विषय में अन्तर्दृष्टि देना तथा साहित्यकार को उसके उपलब्ध मूल्यों के प्रति जागरूक करना ही समीक्षा का कर्तव्य है।"

इस कर्तव्य का विवेचन करते हुए उन्होंने आगे लिखा है-

" साहित्यकार जीवन के जिस अंश को ग्रहण करता है, इस प्रकार वह अपने- आप भाव में निस्संग, असम्पृक्त अथवा निरपेक्ष नहीं होता। उस सामाजिक अथवा वैयक्तिक परिस्थिति ( मानसिक ) के पीछे समस्त जाति के ( जिसे हम मानवता के अर्थ में भी ले सकते हैं ) दु:ख, सुख, संघर्ष, उत्थान, पतन, आदर्श, चिन्तन तथा अनुभूति के हजारों वर्ष का क्रमिक इतिहास रहा है। इस प्रकार साहित्यकार अपनी व्यक्तिगत अनुभूति से एक ओर अपने वर्तमान समाज से सम्बद्ध है और दूसरी ओर उसके द्वारा अभिव्यक्त जीवन सम्पूर्ण ऐतिहासिक परम्परा की कड़ी के रूप में है। घोर से घोर व्यक्तिवादी अपने चिन्तन के शुद्ध क्षण, अनुभूति की असम्पृक्त स्थिति या कल्पना की असम्बद्ध उड़ान के निरपेक्ष क्षण को मानव इतिहास की निरन्तर प्रवहमान धारा से असम्बद्ध करने का दावा नहीं कर सकता। वास्तव में सांस्कृतिक उपलब्धियों के रूप में प्राप्त मानव- जीवन के विभिन्न मूल्य युग- युग में मूलत: परिवर्तित नहीं होते, इसका कारण यही है कि मानव- जीवन के अविच्छिन्न

प्रवाह में कोई समान आधार उसको ग्रहण किए है, जो देश- काल की बदलती हुई परिस्थितियों में समान रूप से अन्तर्निहित है।"[१]

डा० रघुवंश ने साहित्य के उन शाश्वत तत्वों की ओर इशारा किया है, जो स्थितियों के बदलने के साथ भी बने रहते हैं और जिनको दृष्टि में रखना साहित्यिक मूल्यांकन के लिए महत्वपूर्ण ही नहीं, अनिवार्य है। आगे भाषा के प्रश्न पर विचार करते हुए वे कहते हैं-

" बिम्बों के द्वारा वह मन की गूढ़ कल्पनाओं को और अनुभूति की गहन घाटियों तक पहुंचने का दावा करता है।"

इस प्रकार डा० रघुवंश ने भाषा को संवेदना के साथ अभिन्न माना है, जिसका उल्लेख उनके बहुत से लेखों में हुआ है।

भाषा और संवेदना के विभिन्न पक्षों पर विस्तार से और गहराई से विवेचना करने वालों में डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। ` अज्ञेय ` का सन्दर्भ देते हुए डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है-

" अज्ञेय ने मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या में भाषा को अनिवार्य तत्व माना है। भाषा उनके लिए माध्यम नहीं, अनुभव ही है। सर्जनात्मकता की समस्या से जूझने वाले रचनाकार के लिए यह उचित है कि वह भाषिक- सर्जन की क्षमता को गहरे ढंग से समझे। --- अच्छी भाषा की अच्छाई यही है कि वह भाषा और अनुभव के

---

१- साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य : डा० रघुवंश, पृ०- १६

अद्वैत को स्थापित करे।"[1]

डा० चतुर्वेदी ने इसी भाषिक-संरचना की दृष्टि से ही "कामायनी" का पुनर्मूल्यांकन किया और अपनी पुस्तक "भाषा और संवेदना" में काव्यभाषा के महत्व को गहराई से रेखांकित और विवेचित किया है। इसमें उन्होंने यह प्रतिस्थापित किया है कि काव्यभाषा मूलतः बिम्ब-निर्माण की भाषा है।

उन्होंने लिखा है-

"सामान्य शब्द या सन्दर्भ से प्रतीक की स्थिति तक का विकास काव्यभाषा के संगठन की पहली मंजिल है। इन शब्दों की वास्तविक परिणति तब होती है, जब ये प्रतीक, भावचित्रों अथवा बिम्बों ( इमेज या इमेजरी ; इमेज का अर्थ है भाव-चित्र या बिम्ब, इमेजरी को बिम्बमाला कह सकते हैं ) के रूप में ग्रथित होते हैं। यह भावचित्रों की भाषा ही वस्तुतः काव्यभाषा है।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि- डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी काव्यभाषा की बिम्ब-पहचान उसकी बिम्ब-धर्मिता को ही मानते हैं और यह बिम्ब भी उनकी दृष्टि में केवल चाक्षुष- बिम्ब नहीं है, वरन् इसकी परिणति अर्थ के अद्वैत में होती है जिसका उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है कि-

---

१-हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां- डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०-६

२- भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- २८

बिम्ब - प्रयोग नये खड़ी बोली काव्य में शायद बढ़ती स्व-चेतनता और जटिलतर होती अनुभूतियों के साथ विकसित होकर एक नये तरह की अर्थ-सघनता की संभावनाएं बनाता है, जहां एक ही अर्थ के कई स्तर एक- दूसरे से लिपटकर संश्लिष्ट हो जाते हैं। परम्परित काव्य में शब्द- शक्ति तथा अलंकारों के प्रयोग से कई अर्थों की संभावना होती है, अब एक ही अर्थ की अनेक सूक्ष्म छायाएं बिम्ब में घुल-मिल जाती हैं।"[१]

इस कसौटी पर उन्होंने छायावादी काव्य का पुनर्मूल्यांकन भी किया, विशेषकर प्रसाद का। कामायनी का पुनर्मूल्यांकन तो पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुका है और उसके केन्द्र में बिम्ब-प्रक्रिया ही है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावादी काव्य की भाषिक- संवेदना पर पुनः एक दृष्टिपात किया जा सकता है और काव्यभाषा के इन नये प्रतिमानों के आधार पर उसमें नयी अर्थ- छायाओं की तलाश की जा सकती है और जाने- समझे अर्थों को नये आलोक में देखा जा सकता है। शोधकर्ता को ऐसा लगा कि जहां प्रसाद, निराला और पंत की काव्यभाषा का इन आधुनिक प्रतिमानों के आधार पर कई शोधार्थियों द्वारा अध्ययन हो चुका है, महादेवी वर्मा की भाषा

---

१- सर्जन और भाषिक संरचना : बिम्ब - प्रक्रिया- डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- ६०

का इस प्रकार का अध्ययन अभी नहीं के बराबर हुआ है। इसी प्रेरणा से प्रस्तुत अध्ययन की ओर उन्मुखता बनी, जिसे इस शोध-प्रबन्ध में चरितार्थ करने का प्रयास किया गया है। महादेवी जी का व्यक्तित्व एक विशिष्ट प्रकार का व्यक्तित्व रहा। उन्होंने नारी की अस्मिता, उसके स्वाभिमान और स्वचेतनता को केवल शब्दों के धरातल पर ही नहीं जिया है, बल्कि जीवन में भी चरितार्थ किया है। साथ ही उनके अन्तर्तम में समर्पण की, किसी निगूढ़ प्रियतम के प्रति अपने भाव-निवेदन की गहरी भावना भी प्रारम्भ से अन्त तक दृष्टिगोचर होती है, जो उनकी कविताओं में निर्झरिणी की तरह झरती रहती है। जीवन में महादेवी जी एक अद्भुत, विषम जीवनधारा में बहती रहीं। उन्होंने नारी की स्वचेतनता का एक अर्थ यह भी माना कि वह पुरुष की अनुगामिनी नहीं है। उसकी भावना और उसकी बुद्धि का अपना एक स्वायत्त संसार है और इस मान्यता को जीने में उनका गृहस्थ-जीवन विखण्डित हुआ। विवाहिता होकर भी वे चिर-जीवन एकाकिनी रहीं। उनकी भावना के केन्द्र में कोई पार्थिव पुरुष नहीं था; एक ऐसा रहस्यमय निगूढ़ प्रियतम, जो उनकी चेतना के क्षितिज पर बराबर मंडराता रहा; किन्तु जो कभी उनके जीवन में साकार नहीं हुआ। इसीलिए वे चिर-विरहिणी रहीं- `विरह में चिर` रहीं। वे एक तरफ पार्थिव सुविधाओं में जीती थीं, तो दूसरी ओर एक बराबर बनी रहने वाली मानसिक अतृप्ति में। इस अतृप्ति को उन्होंने अपने जीवन की साधना बनाया। वे शाश्वत आराधिका बनीं और पूजा उनके जीवन का लक्ष्य

स्वर बन गया। यह पूजा, आराधना और चिर-विरह का स्वर उनकी कविता का भी मूल स्वर है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने जिन प्रतीकों की तलाश की, उनके विविध अर्थ-सन्दर्भों में भांकना और उनकी नयी - नयी व्यंजनाओं से साक्षात्कार करना अपने- आपमें एक सृजनात्मक चुनौती से भरा हुआ कार्य लगा।

काव्य के इन नये प्रतिमानों के सन्दर्भ में महादेवी जी के काव्य की परख के साथ - साथ शोधकर्त्री ने एक अध्याय `महादेवी जी के काव्य में भाषा और संवेदना की एकतानता` शीर्षक से लिखा है। इस अध्याय में कवयित्री द्वारा अपनी संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए उस शब्द की तलाश को पहचानने की कोशिश की है, जो शब्द और अर्थ के भेद को समाप्त कर देता है। इसे ही डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने `बिम्ब- प्रक्रिया : अर्थ का अद्वैत` शीर्षक लेख में रेखांकित किया है। इस प्रकार यह `शोध- प्रबन्ध` महादेवी जी के काव्य को एक नये आलोक में देखने का प्रयास करता है।

# द्वितीय अध्याय

## काव्यभाषा की आधारभूत मान्यताएं

### (क) काव्यभाषा और परम्परागत काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण :

काव्यभाषा के सन्दर्भ में परम्परागत काव्यशास्त्रियों के दृष्टिकोण क्या थे ? इस पर प्रकाश डालना अपेक्षणीय है। भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य को सृष्टि और निर्मिति दोनों रूपों में स्वीकार किया गया है। अंग्रेजी के रोमांटिक कवि कीट्स ने आदर्श काव्य उसी को माना है, जो कवि के मन में उसी प्रकार उगे, जैसे वृक्ष में कोंपलें उगती हैं।

काव्यशास्त्रियों ने काव्य के दो संघटक तत्व रखे- शब्द और अर्थ। उन्होंने शब्दार्थ के साहित्य को काव्यास्वाद का जनक कहा। उनका यह मत भरतमुनि के इस सूत्र पर आधारित है-

"विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः"।[१]

काव्यशास्त्र का प्राचीनतम सिद्धान्त है अलंकार- सिद्धान्त। यद्यपि इसके पूर्व भरतमुनि का "रस- सिद्धान्त" पूर्ण प्रचलन पर था, जिसका प्राचीन- ग्रन्थ नाट्यशास्त्र है। परवर्ती काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त

---

१- नाट्यशास्त्र : अध्याय ६, पृ०- ७१

का जो पल्लवन हुआ, उसका आधार 'नाट्यशास्त्र' ही है।

अलंकार सिद्धान्त का सबसे प्राचीन ग्रन्थ, जो आज उपलब्ध है, भामह का 'काव्यालंकार' है। भामह के अनुसार शब्दार्थ का साहित्य-काव्य है। भाषा की दृष्टि से काव्य का विकास क्रमश: संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य के रूप में हुआ है। काव्य किसी भी प्रकार का हो उसे अलंकार-युक्त, वाग्वैदग्ध्य-युक्त, अर्थवान्, औचित्यपूर्ण एवं जटिलता-रहित होना चाहिए। अलंकार से काव्य की शोभा बढ़ती है। अलंकार 'शब्द और अर्थ' दोनों को सुशोभित करता है। सारे अलंकारों का मूल है वक्रोक्ति।

अलंकार की परिभाषा दण्डी ने स्पष्ट रूप से की है- 'काव्य-शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।' जिसका अर्थ हुआ— काव्य-शोभाकर धर्म अलंकार कहलाते हैं। एक अन्य आचार्य उद्भट के अनुसार— 'अलंकार कटक कुण्डलवत बाह्य नहीं हैं,वे कविता के आन्तरिक धर्म हैं।'

वस्तुत: अलंकारवादियों ने 'अलंकार' शब्द के अन्तर्गत सम्पूर्ण काव्य के गुणों को समेटने का प्रयत्न किया। काव्य-शोभादायक सभी तत्वों का मूल है अलंकार और अलंकार का मूल है वाग्वैदग्ध्य या वक्रोक्ति।

दण्डी के अनुसार भी यद्यपि सारे अलंकार रस के उपकारक हैं, किन्तु वाग्वैदग्ध्य ही रस- भार को विशेष रूप से वहन करता है। अतः उन्होंने स्वीकार किया कि काव्य की सिद्धि रस है, रस की सिद्धि अलंकारों से होती है और अलंकारों का मूल है वक्रोक्ति। इनके अतिरिक्त जयदेव और अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों ने ` अलंकार सिद्धान्त ` का प्रबल समर्थन करते हुए अलंकार को ही काव्य का मूल माना है। इन्हीं आचार्यों की परम्परा में रीतिकालीन आचार्य केशवदास भी आते हैं। उनके अनुसार कविता अलंकार के बिना सुशोभित नहीं हो सकती है। प्रमाणस्वरूप उनका यह दोहा उद्धृत है-

` जदपि सुजात सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न बिराजई, कविता, वनिता, मित्त ।। `

शब्दार्थ के चमत्कार के लिए अलंकारों का जो प्रचलन हुआ था, वह पर्याप्त व्यापक होते हुए भी अव्यवस्थित था और साथ ही कुछ स्थूल भी। शीघ्र ही इस बात का अनुभव किया जाने लगा कि अलंकारों की अपेक्षा कोई अन्य सूक्ष्म तत्व है जो किसी रचना के लिए अनिवार्य है और जिसके बिना काव्य-रचना सफल नहीं हो सकती। इस खोज में सर्वप्रथम नवीं शताब्दी में आचार्य वामन आगे आए और उन्होंने रीति को काव्य

की आत्मा स्वीकार किया ।

उन्होंने स्पष्ट किया कि विशिष्ट पद-रचना रीति है । विशिष्ट का तात्पर्य है गुण- युक्त । दस शब्द- गुण और दस अर्थ- गुण मिलकर किसी रचना को पूर्ण बनाते हैं । इन गुणों से युक्त होकर काव्य उसी प्रकार सुशोभित हो उठता है, जैसे रेखाओं द्वारा निर्मित चित्र । इन्हीं गुणों को पाकर वाणी आस्वाद रूप मधु का श्रवण करती है । इस प्रकार वामन ने शब्द- गुण और अर्थ- गुण पर आश्रित तीन रीतियां स्वीकार कीं — वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली । इस परम्परा में वामन के पश्चात् आए आचार्य रुद्रट ने ` रीति- सिद्धान्त ` की सत्ता स्वीकार करते हुए वामन की तीन रीतियों में ` लाटीया ` नाम की एक चौथी नवीन रीति को जोड़ा । आनन्दवर्धनाचार्य ने ` वाच्य- वाचक- चारुत्व- हेतु ` कहकर रीति को शब्द और अर्थ में चारुता लाने वाला उपादान माना है । आचार्य राजशेखर और उनके अनुकरण पर आचार्य भोज ने ` शृंगार-प्रकाश ` में रीति को ` वचन- विन्यास- क्रम ` कहा है । वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने रीति को जिन्हें वे ` मार्ग ` नाम दिये थे, ` कवि- प्रस्थान- हेतु ` अर्थात् कवि कर्म का हेतु माना है । मार्गों को उन्होंने रचना- गुण के आधार पर दो मार्गों में विभक्त किया है- सुकुमार और विचित्र ।

` सम्प्रति यत्र ये मार्गाः कवि प्रस्थान हेतवः

सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ।।

समन्वयवादी आचार्य मम्मट और रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने रीति का स्वरूप प्रतिष्ठित करते हुए उनका सम्बन्ध रस के साथ जोड़ा है।

कवि सम्राट गोस्वामी तुलसीदास भी काव्य में रीति की सत्ता स्वीकार करते हैं जैसा कि दोहावली के निम्नलिखित दोहे से स्पष्ट है-

'अलंकार कवि रीति युत, भूषण दूषण रीति।
वारिजात वरणन विविध, तुलसी विमल विनीत।।'

इस प्रकार वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार तो किया, किन्तु फिर भी वामन की अपनी सीमाएं हैं। उनके गुण एक-दूसरे की सीमा लांघते हुए प्रतीत होते हैं। वर्गीकरण में भी त्रुटियाँ हैं। इसके अतिरिक्त परवर्ती आचार्यों को यह भी अनुभव हो रहा था कि गुणों से भी परे कोई एक तत्व और है जो काव्य में व्याप्त होकर उसकी शोभा बढ़ाता है। इसी तत्व की खोज में 'ध्वनि- सिद्धान्त' का उदय हुआ।

ध्वनि सिद्धान्त को व्यवस्था देने वाले आचार्य आनन्दवर्धन ने घोषणा की कि ध्वनि ही श्रेष्ठ काव्य की कसौटी है। आनन्दवर्धन के अनुसार सहृदयों द्वारा प्रशंसित जो अर्थ काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद किये गये हैं। इनमें से

वाच्य वह अर्थ है जो उपमादि प्रकारों से प्रसिद्ध है। प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध अंगों से भिन्न लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में भासित होता है। अतः काव्य की आत्मा वही अर्थ है। उसकी अभिव्यक्ति में कोई एक शब्द ही समर्थ होता है। जैसे आलोकार्थी दीपक के लिए यत्नवान होता है वैसे ही कवि प्रतीयमान अर्थ के लिए वाच्यार्थ का उपादान करता है। वाच्य, वाचक, व्यंग्यार्थ, व्यंजना- व्यापार और काव्य इन पांचों को ध्वनि कहते हैं। उक्ति के भीतर से जो चारुत्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता, उसे प्रकाशित करने वाला व्यंजना- व्यापार युक्त शब्द ही ध्वनि कहलाता है।

आचार्य आनन्दवर्धन की उपर्युक्त स्थापनाओं से स्पष्ट है कि वे काव्य का सारतत्व प्रतीयमान या ध्वनित होने वाले अर्थ को ही मानते हैं; वाच्यार्थ का उपयोग केवल उस प्रतीयमान अर्थ को ध्वनित करने के लिए ही है। ध्वन्यर्थ का उपकारक होने के नाते ही वह काव्यात्मा रूप में प्रतिष्ठित है। तात्पर्य यह है कि काव्य श्रेष्ठ तभी होता है, जब उसमें कहीं न कहीं कुछ अनकहा रह जाय। ध्वनि- सिद्धान्त उसी अनकहे अर्थ की व्याख्या करता है।

तुलसीदास जी ने तो `रामचरितमानस` के मंगलाचरण में ही

' अर्थसंघानां '[1] द्वारा ध्वनि- तत्व की ओर संकेत किया है। इतना ही नहीं, ' अर्थ अमित अति आखर थोर ' द्वारा उन्होंने ध्वनि तत्व सम्बन्धी अपने ज्ञान का परिचय दिया है। बालकाण्ड में मानस की सांगरूपक की योजना में उन्होंने ध्वनि-तत्व को ' मीन ' अभिहित करते हुए लिखा है-

' धुनि अवरेब कवित गुन जाती ।
मीन मनोहर ते बहु भांती ।।

इसी प्रकार-

' गिरा- अर्थ, जल- बीचि सम,
कहियत भिन्न न भिन्न ।'

कहकर उन्होंने शब्द और अर्थ की अभिन्नता प्रतिस्थापित की है।

ध्वनि जैसे व्यापक, परिपक्व और सूक्ष्म पकड़ वाले सिद्धान्त की स्थापना के बाद आचार्यों ने जिस नये सिद्धान्त का अन्वेषण किया, वह है वक्रोक्ति सिद्धान्त। जिस वक्रोक्ति को कुंतक ने काव्यात्मा रूप में घोषित किया, उसे भामह बहुत पहले समस्त अलंकारों के पृष्ठाधार के रूप में देख चुके थे। कुंतक ने उसे एक व्यवस्थित काव्य- सिद्धान्त के रूप में

---

१- वर्णानामर्थसंघानां रसानाम् छन्दसामपि ।

प्रतिष्ठित किया। वस्तुत: वक्रोक्ति का आधार काव्य-भाषा की वह विलक्षणता है जो उसे इतर वाङ्मय से अलग करती है। साहित्य की भाषा में जो एक वक्रता रहती है, वही उसके प्राण-तत्व रस की वाहिका है और इसीलिए वह अनिवार्य है। वक्रोक्ति को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करके कुंतक ने काव्यास्वाद या रस के इसी अनिवार्य तत्व को रेखांकित किया था। कुंतक ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है-

(१) वक्र- कवि- व्यापार से युक्त, (२) बन्ध में व्यवस्थित और (३) तद्विदाह्लादकारी, (४) शब्दार्थ का साहित्य काव्य कहलाता है। शब्दार्थ के साहित्य पर कुंतक ने बहुत ज़ोर दिया है। उन्होंने कहा है कि अनेक पर्यायवाची शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक शब्द होता है। जो शब्द विवक्षित अर्थ को सर्वाधिक विलक्षण रूप में प्रकाशित कर सके, वही काव्य के देश में यथार्थ 'शब्द' संज्ञा का अधिकारी होता है। कुंतक के अनुसार यह विशिष्ट शब्द काव्य में वाचक होता है और स्वत: रमणीय विशिष्ट अर्थ वाच्य। काव्य का जो भी प्रमुख अर्थ है वही कुंतक के लिए 'वाच्य' है, चाहे वह किसी भी शब्द-शक्ति द्वारा प्रतीत हुआ हो।

कुंतक के अनुसार-'शब्द और अर्थ दोनों ही अलंकार्य हैं। इस

शब्दार्थ का अलंकार है--वक्रोक्ति। प्रसिद्ध कथन- प्रणाली से भिन्न वैचित्र्यपूर्ण वर्णन शैली ही वक्रोक्ति कहलाती है। यह वक्रोक्ति कवि की वैदग्ध्यपूर्ण कथन शैली ही है। इस प्रकार वक्रोक्ति का अर्थ हुआ- वैदग्ध्यभंगी - भणिति। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत हैं जो कुंतक के उदाहरण का ही हिन्दी अनुवाद है-

` तब ही गुन सोभा लहहिं, सहृदय जबहिं सराहिं।

कमल- कमल है तबहिं, जब रविकर सौं विकसाहिं ।।

यहाँ दूसरी बार प्रयुक्त ` कमल ` शब्द का रूढ़िगत अर्थ नहीं है बल्कि उसका तात्पर्य कमल नामक पुष्प के उन गुणों से है, जिसके बिना उसकी सार्थकता नहीं।

तुलसी दास जी भी वक्रोक्ति से पूर्ण प्रभावित जान पड़ते हैं। ` दोहावली ` की अनेक पंक्तियों में वक्रोक्ति का संकेत स्पष्ट रूप से मिलता है। उन्होंने लिखा है कि वक्र उक्ति वह धनुष है, जिस पर वचन रूपी शर का संधान करके सहृदय का हृदय वेधा जाता है- अर्थात् वक्रोक्ति हृदय को तिलमिला देती है-

` वक्र उक्ति धनु वचन सर, हृदय दहेउ रिपु कीस ।

प्रति उत्तर सड़सिन्ह मनहु, काढ़त भट दससीस ।।`

किन्तु तुलसीदास जी वक्रोक्ति को सदा साधन मानते हैं, न कि आचार्य कुंतक की तरह काव्य का सर्वस्व । कुंतक द्वारा स्वीकृति ` वक्रोक्ति ` की परिभाषा इस प्रकार की गयी है-

` उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी - भणितिरुच्यते ।। — १ । १०

ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आचार्य आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति को सम्मान प्रदान करते हुए इस प्रकार लिखा है-

सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति रनयाऽर्थो विभाव्यते ।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः को लंकारोऽनया बिना ।। [१]

साहित्य में उसके विभिन्न तत्वों का विनियोग ही उसे सौन्दर्य प्रदान करता है, प्रारम्भ से ही आचार्यों की दृष्टि इस बात पर रही है। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में पांच प्रमुख सम्प्रदाय—रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति-

---

१- यह उक्ति मूलतः भामह की है जिसे आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है ।

प्रतिष्ठित हो चुके थे, किन्तु फिर भी काव्य के आधारभूत तत्व के सम्बन्ध में कोई एक सर्वमान्य निर्णय नहीं हो सका। भामह आदि साहित्याचार्यों ने प्रत्यक्ष- अप्रत्यक्ष रूप में काव्य के लिए औचित्य की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने तो स्पष्ट रूप से कह दिया है कि औचित्य के अतिरिक्त रस-भंग का और कोई कारण नहीं है। उन्होंने कहा है कि वाच्य तथा वाचक की रसानुकूल औचित्यपूर्ण योजना ही महाकवियों का मुख्य कर्म है।

इसी औचित्य की प्रतिष्ठा सिद्धान्त रूप में करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य- विचार- चर्चा नामक ग्रन्थ लिखा। ग्रन्थ के आरम्भ में वे लिखते हैं कि, अब चारु चर्वणा से चमत्कार उत्पन्न करने वाले रस के जीवन- स्वरूप औचित्य- तत्व का विचार करते हैं। औचित्य तो रस- सिद्ध काव्य का जीवन रूप है। चाहे जितने अलंकार या गुण हों, औचित्य के बिना सब निरर्थक है। जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, वह उचित कहलाती है। उचित का भाव औचित्य है।"

क्षेमेन्द्र- परवर्ती आचार्यों में से कुछ ने औचित्य की चर्चा तो की है किन्तु उन्होंने उसे काव्य का प्राणतत्व स्वीकार नहीं किया। आचार्य मम्मट ने कहा है कि औचित्य के कारण गुण भी दोष और दोष

भी गुण बन सकता है। आगे चलकर साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसे गुण - दोषों तक ही सीमित रखा। हां, आधुनिक युग के कतिपय आचार्यों ने अवश्य ही इसकी प्रशंसा की है। साहित्याचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसके सम्बन्ध में लिखा है-

"सच्ची बात तो यह है कि औचित्य भारतीय आलंकारिकों की संसार के आलोचनाशास्त्र को महती देन है। जितना प्राचीन तथा सांगोपांग विवेचन इसका भारत में हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं। यह हमारे साहित्य के महत्व का पर्याप्त परिपोषक है।"

पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने भी औचित्य पर पर्याप्त विचार किया है। अठारहवीं शताब्दी के महाकवि पोप ने भी औचित्य पर पर्याप्त बल दिया है। ~~उन्होंने अपनी समीक्षा सम्बन्धी पद्यात्मक लेख में अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है-~~

अन्त में औचित्य के सन्दर्भ में यह कहना युक्ति संगत होगा कि-

" औचित्य वह तत्व है जो कविता- कामिनी के मुखचन्द्र को निखारकर निष्कलंक, अम्लान एवं स्वच्छ तो बनाता है, किन्तु उसे ज्योत्स्ना का नया वैभव प्रदान करना उसके वश की बात नहीं है। प्रयोगवादी शब्दावली में कहें तो वह अधिक से अधिक ` लक्स की टिकिया ` है, ` सौन्दर्य की पुड़िया ` उसे नहीं कह सकते। या बिहारी के शब्दों में-

` वह चितवनि औरे कछु, जिहिं बस होत सुजान।`[१]

` रस- सिद्धान्त ` के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं। उन्होंने अपने ` नाट्यशास्त्र ` में रस के विभिन्न अवयवों का विवेचन किया है। भरत से पूर्व भी रस- सिद्धान्त के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। स्वयं भरतमुनि ने पूर्ववर्ती आचार्यों की ओर संकेत किया है- " एते ह्यष्टौ रसा: प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना। " भरतमुनि के कार्य को अनेक परवर्ती आचार्यों भट्ट- लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक, अभिनव गुप्त, भोजराज, विश्वनाथ , जगन्नाथ आदि ने आगे बढ़ाया। आगे चलकर हिन्दी के कवियों और आचार्यों ने भी रस-सिद्धान्त के महत्व को स्वीकार किया। आधुनिक युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० नगेन्द्र ने रस- सिद्धान्त की नयी व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। ` हृदय की अनुभूति`

---

१- गणपतिचन्द्र गुप्त : साहित्यिक निबन्ध, पृ०- ६४

का नाम लेने वाले आधुनिक कवियों तथा समीक्षकों को रस के नाम पर मुंह बनाते देखकर शुक्ल जी ने उनके भ्रम के निवारणार्थ जो रस-परिभाषा बनायी थी ; वह इस प्रकार है- " भले मानुस इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में रस और भाव कहलाती है। यदि जानते तो कोई नया आविष्कार समझकर हृदयवाद लेकर सामने न आते। सम्भव है इसका पता पाने पर कि हृदयवाद तो रसवाद ही है, वे इस शब्द को छोड़ दे हैं। "[१]

शुक्ल जी द्वारा निरूपित रस- दशा की दूसरी परिभाषा इस प्रकार से है- " लोक- हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस- दशा है।"

' चिन्तामणि ' के ' कविता क्या है ? ' निबन्ध में शुक्ल जी ने ' रस- दशा ' का स्वरूप निर्धारित किया है-

" जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है।"

महाकवि तुलसीदास काव्य में रस, अलंकार, ध्वनि, रीति,

---

१- अभिभाषण : पृ०- ३४

वक्रोक्ति तथा औचित्य के समन्वयवाद में विश्वास करते हुए भी रसवादी हैं। यद्यपि उनकी कविता में रीति, अलंकार, ध्वनि आदि का निर्वाह अत्यन्त उच्च धरातल पर हुआ है, फिर भी उनकी दृष्टि में रस काव्य का सर्वातिशायी तत्व है। तुलसीदास की निम्नांकित पंक्तियां इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं-

"भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। राम-नाम बिन सोह न सोऊ ।।
सब गुन रहित सुकवि कृत बानी। राम-नाम जस अंकित जानी ।।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस सन्त गुन ग्राही ।।
निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका ।।
जदपि कवित रस एकौ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं ।।

यदि रस को तुलसीदास प्रधान न मानते तो काव्य में सरसता को प्रथम स्थान न देते। राम की कृपा से प्रगट हुए तत्वों में वे केवल रस का ही नाम लेते हैं न कि अन्य काव्य-तत्व—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि या औचित्य का। उन्होंने अपने काव्य को नव-स्थायी भावों तथा तैंतीस संचारियों की सीमा में नहीं बांधा है। प्रमाणार्थ उनकी निम्नांकित उक्तियां दर्शनीय हैं-

भाव भेद रस भेद अपारा।
कवित दोष गुन विविध प्रकारा ।।"

तुलसीदास कृत मानस में रस के विघ्नों का भी संकेत बालकाण्ड की कई चौपाइयों में मिलता है। तुलसी के रसानुभूति सम्बन्धी विघ्नों को सम्यक् रूप से समझने के लिए सर्वप्रथम अभिनव गुप्त द्वारा विवेचित रसानुभूति सम्बन्धी विघ्नों का उल्लेख करना आवश्यक है। आचार्य अभिनव गुप्त ने रस-विवेचन के अवसर पर रसानुभूति काल में बाधक सात विघ्नों का उल्लेख किया है और रस को " रसनात्मकी तविघ्नप्रतीतिग्राह्योभाव एव रसः " कहा है।

आधुनिक विद्वानों ने भी साधारणीकरण और रसानुभूति का स्पष्टीकरण किया है। डा० श्यामसुन्दरदास ने साधारणीकरण की अवस्था को योग की उस मधुमती भूमिका के समान बताया है, जिसमें हमारा मस्तिष्क तर्क- वितर्क से शून्य होकर आत्मानुभूति में लीन हो जाता है। उन्हीं के शब्दों में--

" मधुमती - भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है, जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के सम्बन्धी इन तीनों का भेद अनुभव करना ही वितर्क है। --- इस पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में सम्बन्ध और

सम्बन्धी विलीन हो जाते, केवल वस्तु-मात्र का आभास मिलता रहता है, उसे प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। जैसे- पुत्र का केवल पुत्र में प्रतीति होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन हो सकता है। --- योगी की पहुंच साधना के बल पर जिस मधुमती - भूमिका तक होती है उस भूमिका तक प्रातिभ ज्ञान-सम्पन्न सत्कवि की पहुंच स्वभावत: हुआ करती है।"[१]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है-

"----- रस दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार होता है, अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योग- क्षेम- वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते; बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। --- इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व कहिए, चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व।"[२]

डा० नगेन्द्र ने साधारणीकरण के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य

---

१- साहित्यालोचन : पृ०- २८० - २८२

२- चिन्तामणि : प्रथम भाग, पृ०- २४६ - २४७

का उद्घाटन किया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है। एक ही पात्र विभिन्न कवियों द्वारा विभिन्न रूपों में चित्रित किया जाता है, किन्तु पाठक उसी रूप का साक्षात्कार करेगा, जिसका कवि ने चित्रण किया है। कवि चाहे तो रावण को अत्याचारी के रूप में प्रस्तुत कर सकता है और यदि वह चाहे तो उसे अपनी आन की रक्षा के लिए मर- मिटने वाला दिखाकर उसके प्रति पाठक की सहानुभूति जगा सकता है। अतः काव्य के माध्यम से कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होता है।

अनेक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी इस साधारणीकरण की क्रिया को स्वीकार किया है, जिनमें से श्री ए० डी० मेन्डर महोदय के विचार प्रमुख हैं, जिसका हिन्दी - रूपान्तर प्रस्तुत है-

"भावतादात्म्य या तदनुभूति पाठक या दर्शक की वह मानसिक दशा है, जिसमें कि वह थोड़ी देर के लिए अपनी वैयक्तिक आत्म-चेतना को भूलकर नाटक या सिनेमा के किसी पात्र के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है।" अतः इस सम्बन्ध में अधिक शंका करना अनावश्यक है।

(ख) काव्यभाषा और गद्य-भाषा का अन्तर

यद्यपि काव्यभाषा के स्वरूप का निर्धारण आदिकाल से ही होता आ रहा है; किन्तु नयी कविता के युग में, जबकि कविता के अन्य सभी परम्परागत लक्षण ( रस, अलंकार, छन्द इत्यादि ) धीरे- धीरे अप्रासंगिक हो चले हैं; काव्यभाषा ही एक महत्वपूर्ण आधार शेष रह जाता है, जिसके सहारे कविता के संघटन को समझा जा सकता है। वैसे तो हिन्दी समीक्षा में काव्यभाषा के विश्लेषण के लिए प्रयत्न होते ही रहे हैं, लेकिन इस सन्दर्भ में अंग्रेजी और अमेरिकन समीक्षकों ने विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किए हैं।

ओवेन बार फील्ड ने अपनी पुस्तक 'पोयेटिक डिक्शन' में काव्यभाषा-की जो परिभाषा देनी चाही है, वह अपूर्ण होने के साथ ही सतही भी दिखती है, जो इस प्रकार है-

" जब शब्दों का चयन और नियोजन इस प्रकार से किया जाय कि वह सौन्दर्य- तत्वात्मक कल्पना को जागृत करे या जागृत करने की चेष्टा करे तो इस चयन के परिणाम को काव्यात्मक शब्द- समूह ( पोएटिक- डिक्शन ) कहा जायेगा।"[१] वैसे काव्यभाषा की व्याख्या की अपेक्षा उसका विश्लेषण करना ही श्रेयस्कर है। काव्यभाषा के विश्लेषण के लिए सौन्दर्य तत्वात्मक दृष्टि प्रमुख रूप से अपेक्षित है।

---

१- मध्यकालीन हिन्दी भाषा : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०-२

भाषा के सन्दर्भ में ` अज्ञेय ` के विचार इस प्रकार है-

" उदाहरण के लिए मैं कह सकता हूं कि सर्जक कवि का सरोकार भाषा से नहीं शब्दों से होता है और रचनात्मक प्रयोग वास्तव में भाषा का नहीं, शब्द का प्रयोग है। मैं यह भी कह सकता हूं कि सम्प्रेषण रचना में निहित है, उसका अनिवार्य अंग है।"[१]

काव्यभाषा को काव्य की सम्प्रेषणधर्मिता का आधार मानते हुए महेन्द्र मधुकर ने लिखा है-

" काव्य की सम्प्रेषणधर्मिता का आधार काव्यभाषा है। काव्यभाषा कविगत अनुभूतियों का वाहन ही नहीं होती, उसकी सफलता अपर व्यक्ति के हृदय तक यथावत् सम्प्रेषित होने और अपेक्षित रसबोध कराने में होती है। कवि की अनुभूतियों की सार्थकता दूसरों को प्रभावित करने और रसमग्न करने में है। इसके लिए काव्यभाषा का उपयोग होता है। यह सत्य है कि भाषा में अनुभूति की समस्त तीव्रता को अंकित करने की क्षमता नहीं होती, कवि की वेगवान अनुभूतियां भाषा के किनारे तोड़कर आगे बढ़ जाती हैं, वैसी स्थिति में सहृदय की निजी प्रतिभा और कल्पना सहायक होती है।"[२]

सामान्यत: मानव जीवन में भाषा के कई स्तर प्रचलित हैं, किन्तु बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा के अन्तर को हमेशा समझा

---

१- ` अपतन ` - अज्ञेय, पृ०- ५६

२- नया आलोचक - सातवां अंक, पृ०- ५०

गया है। वैसे तो साहित्यिक भाषा मूलत: बोलचाल की ही भाषा है, जो समय के साथ रचनाकारों की सृजन- प्रक्रिया से जुड़कर अपना रूप बदल लेती है। साहित्यिक भाषा के मुख्यत: दो रूप हो गये हैं-कविता की भाषा और गद्य की भाषा। काव्यभाषा के अन्तर्गत ये दोनों ही भाषाएं आ जाती हैं। कविता और गद्य की भाषा में गद्य की भाषा बोलचाल की भाषा के ज्यादा निकट होती है।

काव्यभाषा के इन दोनों रूपों का अन्तर किसी साहित्यकार के प्रसंग में देखना अधिक श्रेयस्कर होगा। इस दृष्टि से अज्ञेय भी सफल रचनाकार कहे जायेंगे। भाषा के सम्बन्ध में उन जैसी सावधानी कतिपय रचनाकारों ने ही बरती है। अज्ञेय की कविता और गद्य की भाषा में इतना अन्तर है कि उसके सहारे अपना विवेचन स्पष्ट किया जा सकता है। अज्ञेय की गद्य- भाषा की तुलना में उनकी कविता की भाषा का स्वरूप अधिक उन्मुक्त है। उनकी कविता की भाषा का आधार बोलचाल की भाषा है, जिसमें अलंकरण का कोई स्थान नहीं, लोकजीवन की प्रचलित शब्दावली तथा मुहावरों से परिपूर्ण उनके काव्य में शिल्पगत रूखापन भी अभिव्यक्त होता है; जबकि गद्य की भाषा का स्वरूप इसके विपरीत है। उसका आभिजात्य मुख्यत: बौद्धिक धरातल पर है। `शेखर` और विशेषत: `नदी के द्वीप` के गद्य का परिष्कार रचनाकार की संवेदना के दूसरे पक्ष को उजागर करता है। एक- एक शब्द मानों चुन- चुनकर पिरोया गया है। `नदी के द्वीप` में तो संवेदना अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है।

गद्य और कविता की भाषा में अन्तर स्पष्ट करते हुए डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है-

" गद्य और कविता की भाषा में अन्तर बिम्ब- गठन के कारण होता है ( और दोनों में शायद यही तो विभाजक अन्तर है ) । कविता की भाषा पाठक या श्रोता को बिम्बों अथवा भावचित्रों का आधार प्रदान करती है, जिस पर भावात्मक ढांचा वह ( अर्थात् पाठक ) बहुत कुछ स्वयं बनाता है । इसलिए कविता की भाषा का बहुशिल्पित होना दोष है । परन्तु गद्य प्रधानतः वर्णन की भाषा है, अतः उसमें कसाव अधिक अपेक्षित है । गद्य के शब्द अर्थ के चरम रूप को अभिव्यक्त करते हैं ।"[१]

इस दृष्टि से अज्ञेय की कविता और गद्य-भाषा अपने विभिन्न स्तरों पर उपयुक्त है तथा दोनों के बीच का अन्तर भी मुख्यतः इसी कारण है । सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द ने काव्यभाषा को प्रतिष्ठित करने के लिए क्रान्तिकारी कदम उठाया; किन्तु जैसा कि स्पष्ट है, भारतेन्दु ने प्रथमतः गद्य की भाषा में परिवर्तन किया । कविता की भाषा में परिवर्तन बाद में हुआ । काव्यभाषा का परिष्कृत रूप छायावादी काव्य में कृत्रिमता अधिक हो गयी थी । छायावाद की इसी कृत्रिम एवं लोक-जीवन से परे की शब्दावली के स्थान पर अज्ञेय ने बोलचाल की भाषा को अपनी काव्यभाषा का आधार बनाया ।

---

१- भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- २३

वैसे तो छायावाद की काव्यभाषा को अज्ञेय ने कविता के लिए तोड़ा था, किन्तु उसके बहुत से सशक्त अंशों का प्रयोग उन्होंने अपनी गद्य-भाषा में किया है जिसकी तुलना महादेवी वर्मा के कतिपय संस्मरण- चित्रों की भाषा से की जा सकती है। प्रारम्भिक काव्यभाषा ( खड़ीबोली ) में गहरी अर्थवत्ता का प्राय: अभाव मिलता है। प्रारम्भ में खड़ीबोली की जो काव्य-रचनाएं उपलब्ध हैं, उनमें प्रतीक एवं भावचित्रों का सर्वथा अभाव है। भाषा प्रयोग विधि की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी कविता का महत्व सर्वव्यापी है। काव्यभाषा के संघटन में केन्द्रीय तत्व बिम्ब ही होते हैं; इस सन्दर्भ में एजरा पाउण्ड का मत इस प्रकार है-

" पूरी जिन्दगी में एक भावचित्र का निर्माण कर सकना कहीं अच्छा है, मोटे- मोटे ग्रंथों को लिखने की तुलना में।"[१]

भाषा में लाक्षणिकता, वक्रता और अनेक प्रकार की भंगिमाएं विकसित की जाती हैं, जिनके सहारे बात को सीधे- सीधे कहने की जगह उसे सम्प्रेषित किया जाता है। शब्दों के अर्थ-विस्तार में से इच्छित और चुने हुए अंशों को ग्रहण किया जाता है जो काव्यभाषा बनने की पहली आवश्यक शर्त है और जिससे बिम्बों का संघटन सम्भव होता है।

कई भाषा-वैज्ञानिकों का मत है कि भाषा का आदिम रूप अपनी प्रकृति में काव्यात्मक एवं संगीतात्मक था। आदिम भाषा के

---

१- भाषा और संवेदना- आरम्भिक वक्तव्य : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- १३

काव्यात्मक होने की बात पाश्चात्य कवि शैली ने भी स्वीकार की है। इस सन्दर्भ में बार फील्ड ने उनका मत उद्धृत किया है-

समाज की आरम्भिक स्थिति में प्रत्येक लेखक अनिवार्यत: कवि होता है, क्योंकि भाषा स्वयं कविता होती है--- प्रत्येक मौलिक भाषा मानों अपनी ऊपरी सतह के निकट एक चक्राकार कविता की अव्यवस्था ही।"

भाषा का प्रारम्भिक रूप काव्यात्मक था ही, इस सन्दर्भ में कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता; किन्तु यह निश्चित है कि भाषा का मौलिक रूप लयात्मक रहा होगा। विकास-क्रम में भाषा के दो रूप प्रचलित रहे होंगे। पहला रूप आरम्भिक, स्थूल और कामचलाऊ रहा होगा। भाषा का यह रूप आवेग से परिचालित रहा होगा; किन्तु इसमें अर्थ की सूक्ष्मता न होने के कारण काव्यात्मकता का तत्व नहीं रहा होगा। भाषा और संवेदना की इस अन्तर्प्रक्रिया को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है-

" भाषा यथार्थ के प्रति हमारी समूची प्रतिक्रिया का कुल योग है, अपनी स्थूल स्थिति में सामान्य भाषा के रूप में और अमूर्त स्थिति में काव्यभाषा के रूप में। पहले रूप में भाषिक अर्थ स्थूल चिन्तन क्रम से व्युत्पन्न और उसके अनुवर्ती होते हैं और दूसरी जगह यह अर्थ और संवेदना के रूप में उसकी सूक्ष्म उपलब्धि भाषा से अनुशासित होने लगती है।"[१]

---

१- भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- ४७

भाषा को कवि के प्रयोग का साधन मानते हुए `अज्ञेय` ने `दूसरा-सप्तक` की भूमिका में प्रयोग को `दोहरा साधन` कहा है जिसका अर्थ हुआ- एक तरह से भाषा को ही कविता का दोहरा साधन मानना। भाषा एक तरह सत्य को पहचानने का साधन है ही, उस जाने हुए सत्य को प्रेषित करने का भी साधन है। इससे पूर्व भाषा को केवल अभिव्यक्ति का साधन माना जाता था।

काव्यभाषा के स्तर पर सृजनशीलता को बहुत कुछ अन्वेषण का पर्याय माना गया है। काव्यभाषा की सृजनशीलता को किसी एक नुस्खे अथवा कुछ नुस्खों में बांधना असम्भव है। सृजनशीलता की सच्ची पहचान `साही` के शब्दों में-

" सृजनशीलता आसान रास्ता छोड़कर नये रास्ते तैयार करती है जो शब्दों की परिपाटीग्रस्त अभिव्यक्ति और बाजारू अभिव्यक्ति इन दोनों खतरों से बचाकर जीवित अभिव्यक्ति बनाती है, इसीलिए वह सृजनशील है।"[१]

कविता में भाषा की सृजनशीलता की यह अवधारणा `तार-सप्तक` में अज्ञेय के एक ऐतिहासिक महत्व रखने वाले वक्तव्य पर आधारित है, जो इस प्रकार है-

" कविता ही कवि का परम वक्तव्य है। अतः यदि कविता के स्पष्टीकरण के लिए स्वयं उसके रचयिता को गद्य का आश्रय लेकर कुछ कहना

---

१- कविता के नये प्रतिमान : डा० नामवर सिंह, पृ०- ११८

पढ़े तो साधारणतया इसे उसकी पराजय ही समझना चाहिए।"[१]

भाषा की एक विशेषता यह भी है कि वह सदा गतिशील रहती है। समय की भांति भाषा भी कभी रुकती नहीं। साथ ही विचार और अनुभूति की संश्लिष्टता भी भाषा की विशेषता है, इसीलिए साहित्य भाषा में रचा जाता है। साहित्यिक भाषा के स्वरूप का निर्धारण करते हुए डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है-

" साहित्य में प्रयुक्त भाषा अपने में उस तरह निष्क्रिय या कि निरपेक्ष नहीं है जैसे कि संगीत में सुर; उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी है। भाषा और साहित्य का युग्म इसीलिए विचार- अनुभव का संश्लेष होता है और काल के विस्तार में उसका रूप बराबर विकसनशील रहता है।"[२]

---

१- तार सप्तक : अज्ञेय, पृ०- २७५

२- सर्जन और भाषिक संरचना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- २६

## (ग) काव्यभाषा में शब्द के सर्जनात्मक प्रयोग की स्थिति

कवि कर्म की सबसे बड़ी कसौटी भाषा होती है। किस बिन्दु पर अभिव्यक्ति कविता बन जाती है और कहां वह केवल एक कथन मात्र बनकर रह जाती है, इसका निर्णायक तत्व भाषा ही है।

भाषा की प्रकृति अपने आपमें अमूर्तन की है। शब्द अन्ततः किसी मूर्त वस्तु अथवा स्थिति के अमूर्त संकेत भर होते हैं। इस प्रकार सारी भाषा अमूर्तन और प्रतीकन की क्रिया है।

भाषा की अमूर्तता क्या होती है, यह भी विचारणीय प्रश्न है। उदाहरण के लिये `गाय` शब्द को ले लिया जाय। यद्यपि `गाय` शब्द स्वयं में अमूर्त है इसका कोई रूप नहीं है किन्तु `गाय` शब्द कहते ही `गाय` का मूर्तरूप हमारी आंखों के सामने दृश्यमान हो उठता है।

आधुनिक समीक्षकों ने कविता में शब्दों को साधन न मानकर साध्य माना है। निराला का उद्धरण इस प्रसंग में दूसरी व्यंजना के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है -

—`ज्यों हों वो शब्द मात्र`। नयी समीक्षा पद्धति शब्दों को `शब्दमात्र` के रूप में ही स्वीकार करती है और वह भी अपनी इच्छित ढंग से अबु सईद अयूब के अनुसार भाषा का यह स्वरूप अपारदर्शी है। अपने एक निबन्ध में उन्होंने इस स्थिति पर प्रकाश डाला है। इसी प्रसंग में सार्त्र की स्थिति का उन्होंने उल्लेख किया है-

" सार्त्र के लिये कविता में प्रयुक्त शब्दों की भाषा कहकर अभिहित करना वैसा ही व्यर्थ या निरर्थक है जैसा कि यह कहना कि 'फूलों की भाषा ' है। इस सन्दर्भ में स्वयं सार्त्र का मत उद्धृत करना भी अपेक्षणीय है-

" कवि शब्दों को वस्तु के रूप में मानता है चिन्ह के रूप में नहीं।" जिसका सीधा अर्थ ऊपर के वाक्य से है अर्थात् शब्दों को साधन न मानकर साध्य मानना।"

इन सारी परिस्थितियों के अवलोकन के बाद अय्यूब पुनः इस निष्कर्ष पर आते हैं कि-

" यदि हम अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं शब्दों पर, उनकी संगीतात्मकता और चित्रमयता पर, उनकी चयन और क्रम सम्बन्धी शिल्पगत कुशलता पर- जैसा कि आधुनिक कवि और ' नये समीक्षक ' हमसे आशा करते हैं- तो कविता की भाषा अपारदर्शी हो जाती है; हम उसी को देखते हैं, उसके माध्यम से कुछ और नहीं।"

शब्द सम्पूर्ण यथार्थ का मूर्त रूप होता है। भाषा तो यथार्थ के प्रति कवि की सारी प्रतिक्रियाओं का योग है। इसीलिए शब्दों की सार्थकता में मानवीय अनुभूतियों की भांति ही विविधता भी है। काव्य के क्षेत्र में शब्दों का अमूर्तन एक निश्चित सीमा तक ही सम्भव है।

जहां साधारण बोलचाल की भाषा में शब्दों का सीधा एवम्

एक निश्चित अर्थ होता है वहीं साहित्य में उसी शब्द का अर्थ पूरी तरह विविधता से भरा होता है, उदाहरण के लिये बोलचाल की भाषा में एक अकेला शब्द भी ( आओ, जाओ या कि चलो ) अपना एक स्पष्ट एवम् सम्पूर्ण अर्थ रखता है, लेकिन शब्द क्रम के अभाव में कविता का निर्माण असम्भव है ?

यह अनावश्यक नहीं कि कविता में शब्दों का प्रयोग लक्षणा और व्यंजनामय हो या कि एक अर्थ से भिन्न कोई दूसरा अर्थ निःसृत करता हो। कहीं-कहीं सीधी अभिव्यक्तियां भी बहुत प्रभावशाली हो जाती हैं। इसके लिए उर्दू-कवि मोमिन का एक शेर नीचे प्रस्तुत है, जिस पर तत्कालीन शायर ग़ालिब अपनी सारी कृति न्योंछावर करने के लिये तैयार थे।

तुम मेरे पास होते हो गोया।
जब कोई दूसरा नहीं होता।"

इस शेर की भाषिक संरचना को देखा जाय तो यहां कोई भी शब्द ऐसा नहीं है, जिससे कोई चमत्कार पैदा होता हो या कोई दूसरा अर्थ निकलता हो। फिर भी इससे बड़ा हि सशक्त एवम् सघन अर्थ का सृजन होता है।

छायावादी कवियों को शब्दों की सर्जनात्मकता की पूरी पहचान थी। उन्होंने भावपक्ष की ही भांति भाषा के क्षेत्र में भी क्रान्ति की थी। उन्होंने प्रत्येक शब्द की प्रकृति, और उसकी ध्वनि को पहचानने और परखने का प्रयास किया था। पंत जी तो अपनी इस प्रकृति के लिए

विशेष रूप से प्रख्यात हैं। ` पल्लव ` की भूमिका में उन्होंने इस सन्दर्भ में काफी प्रकाश डाला है। प्रसाद को तो शब्दों की अन्तरात्मा का विस्तृत ज्ञान था। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ इस कथन की साक्षी हैं-

सिहर भरे निज शिथिल मृदुल
आंचल को अधरों से पकड़ो,
बेला बीत चली है चंचल
बाहुलता से आ जकड़ो।"

` शब्द ` ही काव्य का मुख्य आधार होता है इस धारणा की पुष्टि `तार सप्तक ` के द्वितीय संस्करण से भी होती है-

" काव्य सबसे पहले शब्द है। और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि-धर्म इसी परिभाषा से नि:सृत होते हैं। शब्द का ज्ञान--शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार- को कृती बनाती है। ध्वनि, लय, छन्द आदि के सभी प्रश्न इसी में- से निकलते हैं और इसी में विलय होते हैं। इतना ही नहीं, सारे सामाजिक सन्दर्भ भी यहीं से निकलते हैं, इसी में युग सम्पृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिलता है या मिल सकता है।"[१]

---

१- अज्ञेय : तार सप्तक, पृ०- ३०८- ३०९

## (घ) काव्यभाषा में मिथक, प्रतीक एवं बिम्ब की योजनाएं

साहित्य का अनुशीलन यह अपेक्षा रखता है कि उसकी गहरी समझदारी के लिए उसके उपादान तत्वों को लेकर निरन्तर अर्थ का अन्वेषण होता रहे; क्योंकि साहित्य-रचना, रचनात्मक प्रक्रिया की एक शृंखला को जन्म देने वाली सृष्टि होती है। इस रचनात्मक प्रक्रिया में जिन तीन उपादान तत्वों का योगदान होता है, वे हैं- मिथक, बिम्ब और प्रतीक। यहां " मिथक " के सन्दर्भ में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

हिन्दी के " मिथक " शब्द को अंग्रेजी शब्द " मिथ " का पर्यायवाची स्वीकार किया जाता है; जिसकी उत्पत्ति ग्रीक भाषा के मूल शब्द " Mythos " से हुई है। " Mythos " का शाब्दिक अर्थ होता है- मुख से उच्चरित वाणी। इस प्रकार यह शब्द मुख द्वारा कही जाने वाली किसी भी कथा का पर्याय बन गया; जो कालान्तर में देवताओं की कथा तक ही सीमित हो गया। " मिथक " में देश और काल से किसी भी घटना को निकाल कर स्थापित करने की चेष्टा की जाती है। उसे देश और काल का व्यापक चौखटा दिया जाता है। इसके द्वारा हम ऐतिहासिक घटना या पात्र को वर्तमान में लाने के लिए उसे इतिहास से परे ले जाते हैं। तात्पर्य यह कि मिथक, इतिहास का सीमित देश-काल में सनातन रूप है। उदाहरणार्थ- राम और कृष्ण इतिहास की सीमा से परे आकर हमारे जीवन के सहचर हो गये हैं; क्योंकि अब उनकी लीला हमारे बीच, हमारे देश- काल में होती है और हम उसमें भाग लेते हैं।

अनेक साहित्य शास्त्रियों ने " मिथक " को आदिम काव्य माना

है। उन्होंने स्वीकार किया है कि आदिम- मानव की कल्पनात्मक वृत्तियां इन कथाओं के माध्यम से ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति पायी हैं। वे ऐसा भी मानते हैं कि आदिम मानव में स्वात्मवादी मानसिक वृत्ति के अतिरिक्त एक और प्रवृत्ति विकसित थी, जिसे अलौकिकता की अनुभूति मानते हैं और जो रहस्यमय तत्वों के प्रति विस्मय की भावना द्वारा उद्भूत हुई। इस विस्मय की अनुभूति को दैवीय शक्ति से युक्त मान लिया जाता है और यही " मिथक " के जन्म का कारण बनती है।

प्राचीन काल से ही मिथकीय कथाओं का प्रचलन रहा है। वेद भी इस कथा- मिथक से वंचित नहीं रहे हैं। अथर्ववेद में वर्णित पृथ्वी और स्वर्ग का कथा-मिथक उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत है- " हे जाये। जिसलिए अग्नि ने इस भूमिका का दाहिना हाथ पकड़ा है, उसी प्रकार मैं तेरा हाथ ग्रहण करता हूं। तू दुःखी न हो, मेरे साथ सन्तान तथा धन सहित निवास कर। सविता तेरे हाथ को ग्रहण करे। सोम तुझे सन्तानवती बनाये, अग्नि तुझे सौभाग्यवती करते हुए वृद्धावस्था तक पति के साथ रहने वाला बनाये। हे वधू। तू मेरे साथ वृद्धावस्था तक रहे, इसलिए तेरे हाथ को ग्रहण करता हूं। तू सौभाग्यवती रहे, भग, अर्यमा, सविता और लक्ष्मी ने तुझे गृहस्थ धर्म के लिए मुझे प्रदान किया है।"[१]

इस प्रकार मिथक अनुष्ठान को अधिक पवित्र एवं आदर्श स्वरूप प्रदान करता है। डा० मालती सिंह ने इसे आदिम मानव के अनुभव के

---

१- अथर्ववेद : काण्ड १४, सूक्त १, श्लोक ४८- ५०

रूप में प्रस्तुत किया है-

" मिथक आदिम मानव द्वारा किया गया ऐसा अनुभव है जो दैविक तत्वों के इतिहास का निर्माण करता है। मिथक के ज्ञान के द्वारा कोई वस्तु के मूल को जान सकता है तथा मूल जान लेने का अर्थ है- वह उसे अपनी इच्छा से नियंत्रित कर सकता है। वह कोई अमूर्त ज्ञान नहीं है, बल्कि ऐसा ज्ञान है जिसे कोई आनुष्ठानिक रूप में अनुभव करता है। मिथक अनुष्ठान के लिए कारण प्रस्तुत करता है, उसके प्रभावोत्पादक तथा रहस्यात्मक अर्थ का उद्घाटन करता है।"[१]

इस प्रकार ' मिथक ' को आदिम मनुष्य के प्रारम्भिक सहज ज्ञान की रूपकात्मक अभिव्यक्ति के रूप में विकसित हुआ माना जाता है। इनकी उत्पत्ति का मूल भी मानव के अन्तर्जगत् की अनुभूतियों एवं भावनाओं का प्रक्षेपण ही स्वीकार किया जाता है। वस्तुतः ' मिथक ' जीवन के लिए अपरिहार्य तत्व है। इसकी अपरिहार्यता का मूल कारण है, इसका मानवीय वृत्तियों से सम्बद्ध होना। इन्हीं मिथकों के माध्यम से ही आदिम-कालीन मानव की इच्छाएं, कल्पनाएं एवं भावनाएं अभिव्यक्त हुई हैं। साहित्य भी इन्हीं मानसिक वृत्तियों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। अतः साहित्य और मिथक दोनों ही मानसिक वृत्तियों की अभिव्यक्ति के कारक हैं। फलतः दोनों सृजन की समान भावभूमि पर स्थित है

---

१- मिथक:एक अनुशीलन : डा० मालती सिंह, पृ०- २८

तथा तत्वत: एक ही हैं। मिथकों में भावात्मकता, कल्पनाशीलता, प्रतीकात्मकता, चित्रात्मकता एवं रहस्यानुभूति जैसे अनेक तत्व उन्हें साहित्य की कोटि में रखते हैं। अनेक मिथकशास्त्रियों ने मिथकों को आदिम-काव्य की संज्ञा दी है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तो मिथक को मानवता की प्रागैतिहासिक पूर्व-तार्किक ( Pre-logical ) तथा अचेतन अनुभूतियां स्वीकार करते हैं। वे मिथक तथा भाषा को एक-दूसरे का पूरक मानते हुए लिखते हैं-

" मिथक कल्पनाओं को आज का मानव विज्ञानी आत्म-वंचना नहीं मानता है। वह भी वाक्तत्व की भांति मनुष्य की सहज सर्जनशील शक्ति का ही निदर्शन रूप है। वाक्तत्व की भांति मिथक तत्व भी मनुष्य की सर्जना-शक्ति की कहानी बताता है और उसके पूरक के रूप में युगपत् उत्पन्न होता है।"[1]

वस्तुत: मिथकों के माध्यम से मानवजाति ने साहित्य-सृजन का संस्कार अर्जित किया है। ' मिथक ' प्राचीन काल से ही साहित्य के लिए विषयवस्तु बनता रहा है। विश्व का कोई भी साहित्य अपने देश की मिथकीय परम्पराओं से अछूता नहीं रहा। आदिम मौखिक कथाएं ही लेखनीबद्ध होकर किसी साहित्य की अनुपम- निधि बन जाती हैं। वाल्मीकि द्वारा रचित ' रामायण ' इसी श्रेणी में आता है। मिथकों के साथ जुड़ी हुई रहस्यात्मक अनुभूति ही समय के साथ धार्मिक आस्था के

---

१- साहित्य तत्व : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०- १८

रूप में विकसित होती है। साहित्य के क्षेत्र में मिथकों की प्रस्तुति प्राय: धार्मिक आस्था के विकास के लिए ही हुई है। हिन्दी के मध्ययुगीन काव्य में राम, कृष्ण एवं शिव आदि की मिथकीय कथाएं इसी उद्देश्य से ग्रहण की गयीं। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में राम की मिथकीय कथा का प्रयोग किया है, किन्तु उसे नवीन भावों से संयुक्त कर नवीन विस्तार दिया है।

यद्यपि आधुनिक युग बौद्धिकता एवं तार्किकता का युग है; किन्तु इस युग में भी मिथकों की उपयोगिता और अर्थवत्ता अभी कायम है। मिथकीय अलौकिकता एवं चमत्कार के प्रति अविश्वास अवश्य उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार 'मिथक' सम्पूर्ण मानव-जाति का प्राचीनतम एवं श्रेष्ठतम सांस्कृतिक निधि है। 'मिथक' की व्यापकता इस बात से सिद्ध होती है कि यह प्रत्येक युग के साहित्य में नये अर्थ-सन्दर्भों के साथ प्रस्तुत होता रहा है। यद्यपि 'मिथक' को सत्य से बहुत दूर समझा जाता रहा है, किन्तु हिन्दी में प्रयोगवाद और नयी कविताओं में यथार्थ की प्रस्तुति के लिए जिन तत्वों का सहारा लिया गया; उनमें 'मिथक' प्रमुख है।

अत: यह कहा जा सकता है कि जब किसी देश या काल की सम्पूर्ण चेतना मिथकीय रूप धारण कर लेती है तो उसे प्राचीन कथाओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है। हिन्दी-साहित्य का नवजागरण काल, भक्ति-काल एवं प्रयोगवाद इस प्रकार की अभिव्यक्ति से भरा हुआ है। उदाहरण के लिए भक्तिकाल में रचित तुलसी कृत 'रामचरितमानस'

को लिया जा सकता है, जो मूलत: `वाल्मीकि कृत `रामायण` की मिथकीय कथा पर आवृत है; किन्तु कवि ने उसकी मूल विषय-वस्तु में युगानुरूप आवश्यक परिवर्तन भी किया है। इसी प्रकार नवजागरण काल की `हरिऔध` कृत `प्रिय-प्रवास` एवं मैथिलीशरण गुप्त की `साकेत` मिथकीय रचना है। `साकेत` में कवि ने रामकथा को विशेष मोड़ दिए बिना ही कैकेयी के अनुताप की कल्पना के द्वारा एक नये मिथकीय चरित्र की सर्जना की है। इस प्रकार `मिथक` केवल परम्परागत ही नहीं होते हैं, वरन् विविध सन्दर्भों में मिथकों की पुनर्रचना भी होती है; किन्तु किसी भी रचनाकार को मिथकीय कथा में परिवर्तन करने की एक सीमा तक ही छूट होती है। कुछ रचनाकार अपनी सृजनात्मक कल्पना द्वारा घटनाओं में बिना परिवर्तन के ही अनेक नवीन संभावनाएं उद्घाटित कर लेता है।

आधुनिक साहित्य में धर्मवीर भारती कृत `अन्धा युग` में प्राचीन `मिथक` का प्रयोग बहुत सशक्त रूप में किया गया है, जिसकी विशेषता है `मिथक` के कथात्मक घेरे को तोड़कर कथा के मूल में आदिम भावों तक पहुंचना। भारती जी ने `मिथक` की मूल विषयवस्तु की रक्षा करते हुए उसे आधुनिक संवेदनाओं के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। उन्होंने विश्व-युद्ध के फलस्वरूप उत्पन्न विनाशशीला एवं ह्रासोन्मुख संस्कृति को ही महाभारत युद्ध से सन्दर्भित कर `अन्धा युग` की रचना की है। आवश्यकतानुसार कवि ने आधुनिक चिन्तन की अभिव्यक्ति के

लिए मूल मिथकीय- कथा में सार्थक परिवर्तन भी किया है। जैसे- महाभारत का युयुत्सु आत्मघात नहीं करता है, किन्तु ' अन्धा- युग में वह सत्य का पक्ष लेकर भी आहत होता है। अतः वह स्वयं को पराजित महसूस करता है। अन्ततः उसके मोहभंग की परिणति आत्मघात के रूप में होती है-

> ' वह आत्मघात होगी प्रतिध्वनि
>
> इस पूरी संस्कृति में
>
> दर्शन में, धर्म में, कलाओं में
>
> आत्मघात होगा बस अन्तिम लक्ष्य मानव का।'
>
> — ( अन्धा युग )

यहाँ युयुत्सु केवल व्यक्तिमात्र नहीं है वरन् वह व्यापक स्तर पर युद्ध के बाद उत्पन्न आत्मघाती संस्कृति का प्रतीक है। छायावादी कवियों में प्रसाद एवं निराला की रचनाओं में मिथकीय- कथाओं की सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है। प्रसाद की ' कामायनी ' की रचना पुराण के मिथक पर आधारित है, यद्यपि इसमें ऐतिहासिकता का भी मिश्रण हो गया है। आर्य-साहित्य में मानवों के आदि पुरूष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहास में सर्वत्र बिखरा हुआ है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास का कथा- मिथक ही ' कामायनी ' की रचना का मुख्य आधार है। इसमें प्रसाद जी ने देव- सृष्टि से मानव- सृष्टि तक की यात्रा को नये परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ मानते

हुए भागवत में लिखा गया है-

ततो मनु: श्राद्धदेव: संज्ञायामास भारत

श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान् ।" — ६-१-११

यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का अद्भुत समन्वय हो गया है। जैसा कि प्रसाद जी ने 'कामायनी' की भूमिका में संकेत किया है। ऐतिहासिक मनु, श्रद्धा और इड़ा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करते हैं- रचना को नवीन अर्थ सन्दर्भ से युक्त करते हुए प्रसाद ने मनु को 'मन' तथा श्रद्धा और इड़ा को क्रमश: हृदय और मस्तिष्क के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार निराला का 'राम की शक्ति- पूजा' एवं तुलसीदास 'भी मिथकीय- कथाओं पर आधारित है। 'राम की शक्ति पूजा' की पृष्ठभूमि यद्यपि पौराणिक है, किन्तु उसका सत्य कवि के व्यक्तिगत जीवन का भी है। इस प्रकार 'राम की शक्ति-पूजा' मिथकीय- कथा की पुनर्रचना कही जा सकती है। इसमें मर्यादा पुरूषोत्तम राम के चरित्र में ब्रह्म की पूर्णता नहीं, वरन् मनुष्य की अपूर्णता व्यंजित होती है। वस्तुत: निराला ने अपने जीवन की अनुभूति, निराशा, पराजय, संघर्ष और विजय-कामना को ही इसमें नाटकीय अभिव्यक्ति दी है। 'राम की शक्ति-पूजा' में पौराणिक- कथा से परे एक नयी कथा का सृजन किया गया है; जिसमे राम, रावण पर विजय प्राप्त करने के लिए शक्ति की साधना करते हैं; किन्तु प्रश्न यह है कि उन्हें विजय

मिलेगी या नहीं । राम के हृदय का यही अन्तर्द्वन्द्व इसमें व्यंजित होता है तथा पूरी कविता इसी सूत्र पर संग्रथित है-

` धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध ` ।

इसी प्रकार ` तुलसीदास ` में निराला ने इतिहास की पृष्ठभूमि को लिया है, जिसमें मध्यकाल का सामाजिक पतन और उसमें शूद्रों पर किया गया अनाचार सन्निहित है । मूलचित्र तुलसीदास के अन्तर्द्वन्द्व का है । यों तुलसीदास के सन्दर्भ में लोकप्रचलित कथा यह है कि एक बार अपनी पत्नी के मायके चले जाने पर तुलसीदास शव पर सवार होकर पत्नी से मिलने के लिए यमुना पार अपनी ससुराल चले गये । वहां सांप को रस्सी समझकर पकड़ लिए और उसी के सहारे ऊपर चढ़ गये । वहां पत्नी की इस फटकार पर कि-

` धिक् ! धाए तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुल-धर्म धूत;
राम के नहीं, काम के सूत कहलाए !
हो बिके जहां तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ- हाड़ चाम !
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आए ।` — तुलसीदास

तुलसीदास गृह त्याग देते हैं और उन्हें नारी का तेजोमय स्वरूप दिखायी देता है । यह नारी बाधक न होकर उनके जीवन की प्रेरणा बन

जाती है। इसी मिथक- कथा को निराला जी ने नये परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है, जिसमें वे अपनी साधना से समाज को मुक्ति देना चाहते हैं; किन्तु मन की दुर्बल वासनाएं बाधास्वरूप प्रस्तुत हो जाती हैं।

इस प्रकार मिथकीय प्रसंगों से युक्त अनेक रचनाएं हिन्दी-साहित्य की धरोहर हैं। मिथकों द्वारा प्राचीन कथाएं ही नहीं, वरन् आदिम मानव की कल्पनाओं एवं विचारों की भी अभिव्यक्ति होती है। मिथक को अभिव्यक्ति का सर्वाधिक सशक्त माध्यम स्वीकार करते हुए डा० मालती सिंह ने लिखा है-

" वस्तुत: जब किसी रचनाकार का चिन्तन, कल्पनाएं एवं अनुभूतियां व्यापक आयाम लेकर उद्भूत होती हैं, तब प्राचीन इतिहास एवं मिथक उसको सम्पूर्णता से व्यक्त करने में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ होते हैं। मिथक उन भावों एवं समस्याओं को न केवल व्यापक आयाम प्रदान करते हैं; बल्कि उन्हें परम्परा से जोड़कर अधिक गहरा, विश्वसनीय एवं प्रभावशाली बनाते हैं।"[१]

इस तरह मिथकीय कथाएं प्राचीन काल से ही साहित्य में अपना स्थान बनाए हुए हैं। भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय तद्युगीन रचनाकारों ने राष्ट्रीय-चेतना को जाग्रत करने के लिए मिथकीय-कथाओं का सहारा लिया। स्वतन्त्रता के बाद उत्पन्न मूल्यों के विघटन एवं अनेक असंगतियों को व्यक्त करने का सर्वाधिक सशक्त माध्यम मिथक ही साबित हुआ। प्रयोगवाद और नयी कविता के युग में मिथकों के प्रयोग की बहुलता भी इसकी सशक्तता को प्रमाणित करती है।

---

१- मिथक : एक अनुशीलन : डा० मालती सिंह, पृ०- ५६

प्रतीक - योजना :

सामान्य शब्द या सन्दर्भ से प्रतीक की स्थिति तक का विकास काव्यभाषा के संगठन की पहली मंज़िल है। शब्दों की वास्तविक परिणति तब होती है, जब ये प्रतीक भावचित्रों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। वस्तुत: बिम्बों की यह भाषा ही काव्यभाषा कहलाती है। प्रतीक के माध्यम से ही सामाजिक अर्थ को वैयक्तिकता तक लाने का प्रयत्न किया जाता है, लेकिन जहां कवि बिम्बों का सृजन करना चाहता है, वहां प्रतीकों के स्वीकृत परिवेश का परित्याग कर देता है और मनोवांछित परिवेश की रचना करता है।

प्रतीक की प्रक्रिया पर अपने विचार व्यक्त करते हुए डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है-

" प्रतीक किसी सूक्ष्म भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक अपेक्षया स्थूल तत्व का चुनाव है।"[१]

प्रतीक का मूल तत्व यही है कि उसके माध्यम से किसी शब्द के चरम अर्थ के स्थान पर उसके आंशिक अर्थ को ही ग्रहण किया जाये। प्रतीक कालान्तर में भाषा की सामान्य शब्दावली की तरह स्वीकृत और बहुप्रचलित हो जाते हैं। जैसे- सूर्य ज्ञान और तेज का प्रतीक है तथा कमल स्निग्धता एवं शुभ का प्रतीक है इत्यादि।

---

१- १- सर्जन और भाषिक संरचना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- ४८

इसी प्रकार कविता के विकास-क्रम में नये प्रतीकों का निर्माण होता रहता है, जो आगे चलकर रूढ़ हो जाते हैं। प्रतीक- विधान का यही स्वरूप काव्य-भाषा का विकास-क्रम है। प्रस्तुत विवेचन को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। जैसे- कवि निराला की ` ठूंठ ` शीर्षक एक कविता है, जिसमें ठूंठ जैसा मामूली वस्तु ` प्रतीक ` के रूप में ग्रहण किया गया है जिससे उदासी, श्रीहीनता की गहरी व्यंजनाएं विकसित होती हैं।

प्रतीक के द्वारा किसी एक शब्द से व्यापक अर्थ व्यक्त होता है या दूसरे शब्दों में उसे भाव विशेष का अमूर्तन कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए ` बौना ` शब्द को लिया जा सकता है जिसका अर्थ शारीरिक विकास का रुक जाना होता है; लेकिन यदि इसका प्रयोग किसी राष्ट्र-स्तरीय संवेदना का विकास रुक जाने के अर्थ में होगा तो यह ` बौना ` का प्रतीकार्थ हुआ।

वस्तुत: प्रतीक काव्यभाषा के सबसे तेजस्वी तत्व होते हैं। प्रतीक यदि बिम्बों के रूप में नहीं ढल पाते तो उनमें से ज्यादातर प्रतीक रूढ़ि बनकर रह जाते हैं और अन्तत: उनका स्वरूप एक सामान्य शब्द की तरह जड़ हो जाता है। बिम्बों के रूप में संक्रमित न हो पाने के कारण ये प्रतीक आगामी कवियों या साहित्य के लिए अवरोधक बन जाते हैं ?

प्रसाद की काव्यभाषा में प्रतीकों के माध्यम से बिम्ब को विकसित करने की सूक्ष्म प्रक्रिया दर्शनीय है। उदाहरण के लिए ` इड़ा ` सर्ग

का एक प्रसिद्ध गीत लिया जा सकता है- ' जीवन निशीथ के अन्धकार,' यहां पर 'अन्धकार' मनु के अपने मन के विभ्रम का प्रतीक है। इस अन्धकार के समूचे अनुभव को अधिक यथार्थता प्रदान करने के लिए कवि एक बिम्ब-माला का सृजन करता है।

डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में- ' इन बिम्बों में कच्ची इच्छाओं के जलने का धुआं है; यौवन मधुबन की कालिन्दी है; मायाविनी युवती के नेत्रों का अंजन है और अतीत के धुंधले चित्रों का संकलन है। पूरे छन्द में एक प्रतीक तथा उसके लिए प्रयुक्त कई बिम्बों का परस्पर गठन इतना संश्लिष्ट है कि अर्थ की प्रक्रिया बड़ी सघन और भारी, यद्यपि निर्मल लगती है।'[१]

भाषा के सन्दर्भ में प्रतीक और बिम्ब पर डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने यों प्रकाश डाला है-

' प्रतीक और बिम्ब काव्यभाषा की निर्माण प्रक्रिया के विशिष्ट तत्व हैं। ये दोनों ही विभाजन मूलत: पश्चिमी समीक्षा के हैं। --- प्रतीक और बिम्ब अप्रस्तुत होते हुए भी भाषिक प्रक्रिया में प्रस्तुत के स्थानापन्न हो जाते हैं। अत: भाषा के अत्यन्त संवेदनशील स्तर पर रूपान्तरित हो जाते हैं, भाषा हो जाते हैं।'

---

१- दर्शन और भाषिक संरचना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- ६३

बिम्ब विधान :

बिम्ब या भावचित्र की प्रक्रिया अधिक संश्लिष्ट होती है। वह कई तत्वों से निर्मित होने के कारण गतिशील होता है। प्रतीकों की तरह बिम्बों का एक निश्चित अर्थ नहीं हुआ करता, इसीलिए काव्य में अर्थ की स्वायत्तता प्रदान करने हेतु मुख्य उत्तरदायित्व बिम्बों का ही होता है।

बिम्ब विधान के सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता इस प्रकार है-

" काव्य में बिम्ब स्थापना ( Imagery ) प्रधानवस्तु है। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह पूर्णता को प्राप्त है। अंग्रेजी कवि शैली इसके लिए प्रसिद्ध है।[१]

बिम्ब विधान की वास्तविक शुरुआत आधुनिक काल में खड़ीबोली के विकास के साथ होती है। आधुनिक बिम्ब प्रक्रिया का उद्भव कहां से प्रारम्भ होता है इस सन्दर्भ में डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी का मत उद्धृत है- " आधुनिक बिम्ब- प्रक्रिया छायावादी कवियों विशेषत: प्रसाद से प्रारम्भ होती है। अनुभव की सूक्ष्मता, जटिलता और समग्रता पर बल बढ़ता है और इसकी अभिव्यक्ति के लिए बिम्ब-विधान को

---

१- जायसी ग्रन्थावली - भूमिका ( आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ) पृ०- ११७

अधिकाधिक दक्ष बनाने की कोशिश होती है।'

प्रसाद के बिम्ब- विधान की विशेषता के कई स्वरूप हैं। रचना के स्तर पर कवि सर्वाधिक उस बात के लिए प्रयत्नशील रहता है कि उसके लिए सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभवों का रूपांकन कर सके। प्रसाद के सूक्ष्म और अमूर्त बिम्ब विधान को निम्न उदाहरण से समझा जा सकता है-

' है स्पर्श मलय के झिलमिल- सा
संज्ञा को और सुलाता है।'

इसमें मनु द्वारा प्रेम और उसके आकर्षण की मादकता का प्रथम अनुभव वर्णित है। प्रथम प्रणय-स्पर्श का सूक्ष्म अनुभव उसी प्रकार के सूक्ष्म बिम्ब विधान में विकसित हुआ है। विस्तारत: मलय स्वयम् में अमूर्त तत्व है उसे और सूक्ष्म तथा अमूर्त बनाने के लिए कवि द्वारा 'झिलमिल' शब्द का प्रयोग किया गया है। पुन: एक सामान्य-सा अव्यय ' सा ' उस ' झिलमिल ' को प्रकृति को और सूक्ष्म बना देता है। ' मलय के झिलमिल ' का बिम्ब विधान प्रथम मानवीय- प्रणय की सूक्ष्म अनुभूति को कला के स्तर पर उसी प्रकार अस्पष्ट रूप में व्यंजित करती है। जैसी वह स्वयं मनु के लिए अनिर्दिष्ट रही होगी।

काव्य में बिम्ब विधान की महत्ता प्रतिपादित करते हुए ' तीसरा- सप्तक ' के अन्तर्गत केदारनाथ सिंह ने एक प्रकार से घोषणा ही की है-

" कविता में " मैं " सबसे अधिक ध्यान देता हूं बिम्ब विधान पर। बिम्ब- विधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषय-वस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है, रूप को संक्षिप्त और दीप्त।"[१] बिम्ब विधान की इस योजना और संक्षिप्त परिभाषा के साथ ही उन्होंने काव्य बिम्ब को मूल्यांकन के प्रतिमान के रूप में भी स्थापित किया :

" एक आधुनिक कवि की श्रेष्ठता की परीक्षा उसके द्वारा आविष्कृत बिम्बों के आधार पर ही की जा सकती है। उसकी विशिष्टता और आधुनिकता सबसे अधिक उसके बिम्बों से ही व्यक्त होती है।"[१]

अंग्रेजी साहित्यकार डा० एफ० आर० लीविस ने सितम्बर १९४५ की " स्क्रूटिनी " में ( Imggery and Movement ) बिम्ब और गतिमयता शीर्षक एक निबन्ध में लिखा है-

चरम विश्लेषण में बिम्ब का स्थान गतिमयता ( Movement ले लेती है। क्योंकि काव्य मूल्य का अन्तिम निर्णय गतिमयता के ही आधार पर होता है। डा० लीविस को अपनी भाषा में यह गतिमयता अन्ततः कविता में व्यक्त जीवन का पर्याय हो जाती है इसलिए इसे केवल

---

१- वक्तव्य ( तीसरा सप्तक ) केदारनाथ सिंह

भावावेग तथा अनुभूति तक सीमित कर देना ठीक नहीं ।

गतिमयता के साथ बिम्ब-रचना का सफल रूप प्राय: छोटी कविताओं में सुलभ होता है। सन् १९३६ में रचित शमशेर बहादुर सिंह की एक छोटी - सी बिम्बवादी कविता प्रस्तुत है-

" सूना - सूना पथ है, उदास झरना
एक धुंधली बादल- रेखा पर टिका हुआ आसमान
जहां वह काली युवती हंसी थी ।"

आगे चलकर यह बिम्बवादी प्रवृत्ति और भी सघन हो गयी । उदाहरणस्वरूप ` सुबह ` शीर्षक कविता प्रस्तुत है-

" जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वो पत्थर
सजग होकर पसरने लगा
आप से आप ।"

इसी प्रसंग में केदारनाथ अग्रवाल की कविता पुस्तक `फूल नहीं रंग बोलते हैं ` में संकलित एक कविता अपने ~~के~~ बिम्बों की ताज़गी के लिए विशेषत: उल्लेखनीय है-

` जल रहा है
जवान होकर गुलाब
खोलकर होंठ
जैसे आग
गा रही है फाग "

काव्य बिम्ब की आलोचना करते हुए पाश्चात्य आलोचना जगत के कुछ लेखकों का ख्याल यह है कि- " पश्चिम के आलोचक बिम्ब के महत्व से इतना आक्रान्त हैं कि उनकी सम्पूर्ण काव्य-चेतना ही बिम्ब से परिव्याप्त है।"

# तृतीय अध्याय

## छायावादी काव्यभाषा का सांस्कृतिक आयाम

### ( प्रसाद - निराला )

छायावादी युग आधुनिक हिन्दी कविता का स्वर्ण-युग है। वर्ण्य- विषय और अभिव्यक्ति दोनों ही क्षेत्रों में छायावाद महान् कृतित्व का काल सिद्ध हुआ है। छायावादी कवियों ने अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के क्षेत्र में एक अद्भुत क्रांति उत्पन्न की।

जैसा कि प्राय: होता है, छायावादी काव्य प्रतिक्रियात्मक नहीं था। यह युग के अनुरूप ही एक सांस्कृतिक चेतना की लहर के रूप में दिखायी पड़ा। छायावादी कविता का बहुत सुष्ठु तथा स्वाभाविक विकास हुआ है। विद्रोह की जो प्रवृत्ति प्रारम्भिक छायावादी कवियों में थी, वह उत्तरोत्तर एक निश्चित धारा के प्रवर्तन में सहायक सिद्ध हुई।

छायावाद युग में वैदिक संस्कृति का पुनर्जागरण हुआ। छायावादी कविता में सांस्कृतिक पुनर्जागरण का यह प्रयास स्पष्ट झलकता है। विद्वान् आलोचकों ने भी छायावाद को एक विशाक्त सांस्कृतिक चेतना का परिणाम माना है। छायावाद के अन्यतम ग्रन्थ `कामायनी` महाकाव्य में वेदों के पुनर्जागरण का स्वरूप स्पष्ट देखा जा सकता है। प्राचीन ऋग्वेद के प्रतीक जैसे- मित्र, वरुण, सविता, उषा आदि का इसमें उपयोग किया गया है। अनेक प्रकार के यज्ञों की चर्चा भी वेदों से ली गयी है। छायावाद के दूसरे प्रमुख

कवि पंत ने उपनिषदों को अपनी कविता में उतारा है। निराला जी की प्रवृत्ति भी वेदादि के पुनर्जागरण और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की रही है। महादेवी ने वेदान्त और सांख्य के आधार पर अपनी कविता में अध्यात्म को अनुस्यूत किया है।

छायावादी कवियों के दृष्टिकोण में विश्व-शांति और विश्व-धर्म का संकेत मिलता है। प्राचीन अद्वैतवाद और सर्वात्मवाद के दर्शन ने भी छायावाद को कमोवेश प्रभावित किया। कवयित्री महादेवी का तो यहां तक विश्वास है कि "छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य- सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख - दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य- सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार संभाल सकी।"[१]

छायावादी कवियों ने भारतीय संस्कृति को अपनी रचनाओं में पर्याप्त स्थान दिया है। यद्यपि यह भाव प्रत्येक छायावादी कवियों की रचनाओं में कुछेक मात्रा में व्याप्त है, किन्तु प्रसाद और निराला की पृष्ठभूमि ही भारतीय संस्कृति रही है।

---

१- महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ०- ६१

प्रसाद की `कामायनी` में भारतीय संस्कृति अपनी सम्पूर्ण गरिमा और व्यापकत्व के साथ विद्यमान है। कामायनी के चिन्ता, श्रद्धा, आशा, कर्म तथा इड़ा आदि सर्गों में मनु के अतीत- स्मरण और कार्यों के माध्यम से देव- जाति की संस्कृति का चित्रण हुआ है। यह चित्रण भारत के वेद और उपनिषद् साहित्य पर आधारित है। `कामायनी के `चिन्ता` सर्ग में देव- जाति की अलौकिक शक्ति- सम्पन्नता का विशद् चित्रण हुआ है-

" सब कुछ था स्वायत्त विश्व के
बल, वैभव, आनन्द अपार,
उद्वेलित लहरों- सा होता, उस
समृद्धि का सुख - संचार।" —कामायनी

(१,११,१२ छं)

की रचना का मूल- आधार ` शतपथ - ब्राह्मण,` उपनिषद् और ऋग्वेद हैं; साथ ही कवि की उर्वर कल्पना- शक्ति का अपूर्व संगम इसे एक मनोरम कृति बनाने में सफल हुआ है। भारतीय इतिहास के आदि- पुरुष ` मनु ` को ` शतपथ- ब्राह्मण ` में ` श्रद्धादेव ` कहा गया है- ` श्रद्धादेवो वै मनुः `। भागवत में इन्हीं वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है-

" ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत
श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान।"

१-१-११ )

'ऋग्वेद' में श्रद्धा और मनु दोनों का नाम ऋषियों की तरह मिलता है। श्रद्धा वाले सूक्त में 'सायण' ने श्रद्धा का परिचय देते हुए लिखा है- 'कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका'। श्रद्धा 'काम' गोत्र की बालिका है, अतः श्रद्धा नाम के साथ उसे 'कामायनी' भी कहा जाता है।

इसी प्रकार जल-प्लावन का वर्णन 'शतपथ - ब्राह्मण' के प्रथम- काण्ड के आठवें अध्याय से आरम्भ होता है, जिसमें उनकी नाव के उत्तरगिरि हिमवान प्रदेश में पहुंचने का प्रसंग है। वहां ओघ के जल का अवतरण होने पर 'मनु' जिस स्थान पर उतरे, उसे 'मनोरव-सर्पण' कहते हैं-

अपी परं वैत्वा, वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व, तं तु त्वा या गिरौ सन्त मुदकमन्तश्चैत्सीद् यावद् यावदुदकं समवायात्- तावत् तावदन्ववसर्पासि इति स ह तावत् तावदेवान्ववस सर्प। तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरव सर्पणमिति।—( ८-१ )

इसी प्रकार 'कामायनी' की पात्र 'इड़ा' के सन्दर्भ में 'शतपथ-ब्राह्मण' में कहा गया है कि उसकी उत्पत्ति या पुष्टि पाक-यज्ञ से हुई। 'ऋग्वेद' में भी 'इड़ा' का कई जगह उल्लेख मिलता है। यह प्रजापति मनु की पथ- प्रदर्शिका मनुष्यों का शासन करने वाली कही गयी है। 'इड़ा' के सम्बन्ध में 'ऋग्वेद' में मंत्र भी मिलते हैं-

"आनो यज्ञं भारती तूय मेत्विड़ा मनुष्वदिह चेतयंती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदंतु।"
— ( ऋग्वेद १०-११०- ८ )

इस प्रकार हम देखते हैं कि `कामायनी` की रचना एक गहरे सांस्कृतिक आधार पर हुई है। प्रसाद जी ने `कामायनी` के माध्यम से वेदों की पुनर्रचना का प्रयास नहीं किया है। उनका उद्देश्य तो अपनी वैदिक संस्कृति के स्वस्थतम तत्वों के सहारे एक ऐसी मूल्य - दृष्टि का विकास करना है जो आधुनिक सन्दर्भ में भी भारतीय मनुष्य के लिए अपनी पूरी सार्थकता रखती है। इसलिए उन्होंने बहुत से प्राचीन शब्दों का नया अर्थगर्भी प्रयोग किया है। उन प्रयोगों के द्वारा उन्होंने कहीं - कहीं बहुत क्रान्तिकारी ढंग से मध्यकालीन मूल्य - दृष्टि को अस्वीकार किया है। उदाहरण के लिए- `काम` शब्द को लिया जा सकता है। मध्यकालीन दृष्टि में यह शब्द बहुत अवमूल्यन का शिकार हुआ है। इसकी गणना क्रोध, मद, लोभ आदि मनोभावों के साथ हुई है। सन्त कवियों ने अपनी दीनता और अपात्रता का उल्लेख करने में इनका प्रयोग किया- ` मोंसो कौन कुटिल, खल, कामी।` यहां तक कि `गीता` में भी `काम` को वही स्थान दिया गया है और `काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भव:` कहकर उसकी भर्त्सना की गयी ; लेकिन प्रसाद जी ने अपनी एक रचना का शीर्षक ही `कामायनी` रखा है और वे बड़ी दृढ़ता के साथ `श्रद्धा` सर्ग में इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि `काम` इस जगत् का एक मंगलमय उत्कर्षकारी भाव है-

काम मंगल से मण्डित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम `

जब ` काम ` के विषय में प्रसाद जी ऐसा कहते हैं तो वह उस पूरी दृष्टि को अस्वीकार कर देते हैं जो ` काम ` के एकांगी अर्थ से बनी हुई होती है । प्रसाद की दृष्टि में ` काम ` का अर्थ वासना या कामुकता नहीं है, वह जीवन के प्रति एक गहरे स्वीकार भाव का पोतन करता है। इसीलिए ` प्रसाद ` श्रद्धा के मुख से यहां तक कहलवाते हैं- ` तप नहीं केवल जीवन सत्य,` इस पंक्ति में प्रसाद ने ` तप ` जैसे भारतीय संस्कृति के एक अत्यन्त महनीय शब्द को नये सन्दर्भ में परिभाषित करने का प्रयास किया है। वेदों के बाद एवं उपनिषदों के अन्तिम चरण से ही भारतीय संस्कृति में ` तप ` का एक गहरा अर्थ माना गया है। पूरा जैन दर्शन इस ` तप ` को अपने चिंतन में आत्मसात् किये हुए है, परन्तु प्रसाद जी ` जीवन ` को ` तप ` से बड़ा सत्य मानते हैं। जीवन से पलायन उन्हें स्वीकार्य नहीं, इसलिए वे त्याग, तपस्या, अनासक्ति आदि मूल्यों को नये सिरे से परिभाषित करते हैं। कामायनी में ` श्रद्धा ` मनु से कहती है-

` कर रहा वंचित कहीं न त्याग,

तुम्हें मन में धर सुन्दर वेश। `

इस प्रकार ` प्रसाद ` जीवन के प्रति एक गहरी आसक्ति का दर्शन प्रस्तुत करते हैं और उन पुराने मूल्यवान शब्दों जैसे- तप, त्याग आदि को नये सन्दर्भ में देखते हैं जहां वे उतने मूल्यवान नहीं रह जाते। दूसरी ओर `काम ` को वे एक नयी अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।

कर्म-सिद्धान्त भी भारतीय संस्कृति का एक अत्यन्त परिचित शब्द है। ` गीता ` में निष्काम कर्म के सिद्धान्त को बहुत दृढ़ता से प्रतिष्ठित किया गया है। कृष्ण ने अर्जुन से जब कर्मों से संन्यास और निष्काम कर्म की विवेचना की है तो उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में निष्काम कर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। यह कर्म-सिद्धान्त उपनिषद्- काल से ही भारतीय- चिंतन में बड़े केन्द्रीय प्रवाह के रूप में चलता रहा है। प्रसाद ने इस कर्म की निष्कामता के स्थान पर उसके साथ आनन्द का तत्व जोड़ा है। वे कहते हैं-

` एक तुम, यह विस्तृत भूखण्ड

प्रकृति वैभव से भरा अमंत,

कर्म का भोग, भोग का कर्म,

यही जड़ का चेतन- आनंद।` —( श्रद्धा-सर्ग )

इस आनन्द का विधान उन्होंने बड़ी सरसता के साथ किया है, जिसमें जीना एक रूखी - सूखी प्रक्रिया न रहे, बल्कि एक सरस भोग-प्रक्रिया बन जाय। इसी सन्दर्भ में ` श्रद्धा ` मनु से कहती है-

` तपस्वी ! आकर्षण से हीन

कर सके नहीं आत्म-विस्तार।

-- -- --

समर्पण लो- सेवा का सार,

सजल-संसृति का यह पतवार,

आज से यह जीवन उत्सर्ग

इसी पद- तल में विगत-विकार ।

दया, माया, ममता लो आज,

मधुरिमा लो अगाध विश्वास ।

हमारा हृदय-रत्न-निधि स्वच्छ

तुम्हारे लिए खुला है पास ।

बनो संसृति के मूल रहस्य,

तुम्हीं से फैलेगी वह बेल,

विश्व-भर सौरभ से भर जाय

सुमन के खेलो सुन्दर खेल । "

—( कामायनी ' श्रद्धा- सर्ग ' )

इस प्रकार प्रसाद ने कर्म- सिद्धान्त में आनन्द के तत्व को स्त्री और पुरुष के सहयोग तथा स्त्री द्वारा पुरुष को दया, माया, ममता, माधुर्य और अगाध विश्वास की पूँजी से सम्पन्न कर एक गूढ़ आनन्द- व्यापार बनाया है; जिसे स्वीकार कर लेने पर उन्होंने विजयिनी मानवता की कीर्ति- पताका को फहराने की परिकल्पना प्रस्तुत की ।

वास्तव में प्रसाद ने प्राचीन प्रतीकों को उनकी पूरी अर्थवत्ता के साथ स्वीकार किया है, यद्यपि उसमें उन्होंने अपने बुद्धिवाद का समावेश भी अत्यन्त पैने विवेक के साथ किया है । प्रसाद ने प्रतीक

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहु: ।।"[1]

वैदिक ऋषि के उक्त प्रातिभज्ञान-प्रसूत सत्यों के आधारभूत छायावाद के प्रवर्तक कवि जयशंकर `प्रसाद` ने अपने एकेश्वरवाद और आत्मवाद ( आनन्दवाद ) की स्थापना की । उनके मत में-

" आरम्भिक वैदिक काल में प्रकृति- पूजन अथवा बहुदेव उपासना के युग में ही, जब ` एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ` के अनुसार एकेश्वरवाद विकसित हो रहा था, तभी आत्मवाद की प्रतिष्ठा भी पल्लवित हुई । इन दो धाराओं के दो प्रतीक थे । एकेश्वरवाद के वरुण और आत्मवाद के इन्द्र प्रतिनिधि माने गये । वरुण न्यायपति राजा और विवेक पक्ष के आदर्श थे । महावीर इन्द्र आत्मवाद और आनन्दवाद के प्रचारक थे ।"[2]

जब कामायनी में इन प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है तो पाठक के सामने सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन- परम्परा साक्षात् हो जाती है । ` कामायनी ` के ` आशा ` सर्ग में विश्वदेव, सविता, पूषा, सोम, मरुत आदि देवता किसी एक ही शासक के अधीन तथा ग्रह, नक्षत्र, विद्युत्-कण आदि उसी एक का संधान तथा उसकी प्राप्ति के

---

१- ऋग्वेद - सं० अष्ट २ अ० ३ व० २३ मंत्र ४६

२- जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला, रहस्यवाद शीर्षक निबन्ध, पृ०-३५

लिए सिर नीचा कर मौन प्रवचन करते हुए दिखाये गये हैं जो कामायनीकार द्वारा मान्य वैदिक एकेश्वरवाद की ओर ही संकेत करते प्रतीत होते हैं-

" विश्वदेव, सविता या पूषा
सोम, मरुत, चंचल पवमान,
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन में अम्लान ?"
-- -- --

" महानील इस परम व्योम में,
अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते - से संधान ।"
-- -- --

" सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?"

— ( कामायनी " आशा सर्ग " )

प्रकृति के प्रतीकों द्वारा ईश्वर की रहस्यानुभूति वेदों की विशेषता है। दुर्द्धर्ष प्रकृति के प्रांगण में निर्द्वन्द्व विचरण करने वाले

वैदिक ऋषि ने प्रकृति के शक्ति-चिह्नों- सविता, वरुण, मरुत, पूषा आदि के बीच विराट् का साक्षात्कार कर लिया था । अत: देव- वंश- व्रती एवं ` सुर- संस्कृति ` के प्रकृष्ट प्रतीक ` कामायनी ` के मनु की जिज्ञासा प्रलयोपरान्त प्रकृति के अंचल में सकल वैभव- समृद्ध विराट् को हेम घोलते देख कितनी घनीभूत हो गयी है-

" वह विराट् था हेम घोलता
नया रंग भरने को आज,
कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज । "

— ( कामायनी ` आशा सर्ग ` )

प्रसाद जी की इस विराट् की कल्पना पर महात्मा गांधी की चिन्तन- शैली का भी प्रभाव परिलक्षित होता है । ` कामायनी ` के प्रणयन- काल में महात्मा गांधी राष्ट्रनायक के साथ - साथ हिन्दू धर्म के प्रतीक भी माने जाते थे । ईश्वर के विषय में उन्होंने कहा था कि-

" वह एक अवर्णनीय रहस्यपूर्ण सत्ता है जो समस्त भूतवर्ग में अनुस्यूत है । मैं उसका अनुभव करता हूं, यद्यपि देख नहीं सकता । वह अदृष्ट सत्ता अनुभवगम्य होते हुए भी बुद्धि की परिधि से बाहर है,कारण वह उन समस्त वस्तुओं से नितान्त भिन्न है, जिन्हें मैं इन्द्रियों द्वारा

ग्रहण करता हूं ।"[1]

विराट् के विषय में 'प्रसाद' जी का ठीक यही मत है, जिसकी पुष्टि उनकी निम्नलिखित पंक्तियां करती हैं-

" हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता,
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ।
हे विराट् ! हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो, ऐसा होता भान-
मन्द्र- गम्भीर- धीर- स्वर- संयुक्त,
यही कर रहा सागर गान ।" — (कामायनी 'आशा सर्ग')

प्रसाद के आनन्दवाद के सन्दर्भ में नन्ददुलारे वाजपेयी का मत उल्लेखनीय है-

" प्रसाद ' का आनन्दवाद सर्ववाद के सिद्धान्त पर स्थित है जो वैदिक अद्वैत- सिद्धान्त भी कहा जा सकता है । यह सर्ववाद शंकराचार्य

---

१- महात्मा गांधी - हिन्दू धर्म - पृ० ६४

द्वारा प्रवर्तित अद्वैत सिद्धान्त से, जिसमें माया की सत्ता भी स्वीकार की गयी है, भिन्न है। सर्ववाद प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को आत्मसात् करता है जबकि शंकर का मायावाद केवल निवृत्ति पर आश्रित है। भारतीय दर्शन की वह धारा जो वेदों में समस्त दृश्य जगत् को ब्रह्म से अभिन्न मानकर चली है, क्रमशः शैवागम ग्रंथों में प्रतिष्ठित हुई। प्रसाद जी ने शैवागम से ही इस सर्ववादमूलक आनन्दवाद को ग्रहण किया।[१] 'कामायनी' के 'काम' सर्ग में काम ने मनु को आकाशवाणी द्वारा जो शिक्षा दी है, वह उसी दार्शनिकता का संकेत करती है-

> "यह नीड़ मनोहर कृतियों का
>
> यह विश्व-कर्म रंगस्थल है,
>
> है परम्परा लग रही यहां
>
> ठहरा जिसमें जितना बल है।"

सर्ववाद का लक्ष्य निवृत्ति द्वारा उतना सिद्ध नहीं होता, जितना विश्व को कर्मस्थल मानने से होता है। यह कोरा कर्म नहीं, समन्वयात्मक कर्म है। 'कामायनी' में बुद्धि, श्रद्धा और कर्म के समन्वय के साथ ही जीवन के सबसे बड़े और दुर्धर्ष विरोध कर्म, इच्छा और ज्ञान के समन्वय का भी संकेत मिलता है। सत्व, तम और रज के त्रिगुणात्मक प्रवाह में नहीं किसी और से एकात्मता दृष्टिगोचर नहीं होती। अत्यन्त ऊंची भूमि से ये तीन गोलक अलग - अलग

---

१- जयशंकर प्रसाद : श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ०- ६२

दिखायी देते हैं। इनका विच्छेद चिरन्तन और शाश्वत है। इच्छा या भावना रजोगुणी वृत्ति है, ज्ञान सात्विक व्यापार है, तथा कर्म तामस का परिणाम है। सृष्टि के ये तीन प्रबलतम तत्व परस्पर विच्छिन्न होकर एक - दूसरे से टूटकर अनन्त वैषम्य की सृष्टि करते हैं। इस पक्ष अथवा सत्य की ओर प्रसाद जी ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और स्पष्ट लिखा है-

" ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक- दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की ।।"

इस प्रकार प्रसाद के प्रतीकों के द्वारा भारतीय संस्कृति का पूरा गहराई से सांस्कारिक अवगाहन संभव हो सका है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने "कामायनी" में निहित प्रतीक और बिम्ब की रचना-प्रक्रिया पर व्यापक प्रकाश डाला है-

" प्रश्न यह है कि अर्थ के स्तर पर रचनात्मक स्वाधीनता और स्वायत्तता काव्यकृति में विकसित कैसे होती है ? अर्थ के इस संवरण का माध्यम हमें विशेषतः बिम्ब या भावचित्र के विधान में मिलता है। यहां पर प्रतीक और बिम्ब के अन्तर को संक्षेप में ले सकें, समझना आवश्यक है। प्रतीक किसी भावस्थिति को द्योतित करने वाला एक शब्द होता है जैसे कमल या कूप, या सूर्य, जो क्रमशः स्निग्धता, कष्ट-

सहिष्णुता तथा ज्ञान के प्रतीक हैं। बिम्ब या भावचित्र की प्रक्रिया अधिक संश्लिष्ट होती है। वह कई तत्वों से निर्मित होने के कारण स्थिर न रहकर गतिशील होता है और उसका प्रतीक की तरह पूर्व स्वीकृत अर्थ नहीं होता। बिम्ब गठन की प्रक्रिया 'कामायनी' के रचना- विधान का अभिन्न अंग है और जटिल अनुभव - अर्थ- संश्लेषण को उसकी समग्रता में पकड़ने तथा व्यक्त करने का अचूक माध्यम है। साहित्य यदि बिखरी और खण्डित जीवन की पुनर्रचना है तो बिम्ब- विधान इस पुनर्रचना की प्रक्रिया है। काव्य जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करता है और काव्य की अर्थवत्ता बिम्ब से निर्मित होती है। 'कामायनी' की रचना- दृष्टि, काव्य के स्तर पर समकालीन जीवन अनुभव में जो कुछ जोड़ सकी है वह इन बिम्ब मालाओं के ही कारण। अन्यथा यह स्पष्ट है कि उच्च स्तर के काव्य, दर्शन और विज्ञान क्षेत्र की साक्षात्कार- प्रक्रिया में अन्तर बहुत सूक्ष्म रह जाता है।"[१]

भारतीय वेदान्त अपने व्यापक रूप में उपनिषदों पर आश्रित है। उपनिषद् एक ऐसी व्यापक सत्ता की प्रतिष्ठा करते हैं; जिसमें सृष्टि के सारे विरोध और नानात्व दूर हो जाते हैं, 'मैं' और 'तुम' का भेद मिट जाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्वमसि' उपनिषदों की ही स्थापनाएं हैं। केवल ब्रह्म सत्य है, जगत् का कोई

---

१- डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी : कामायनी का पुनर्मूल्यांकन, पृ०- २४

स्वतंत्र अस्तित्व नहीं और जीव भी ब्रह्म ही है। ये वेदान्त के तीन प्रमुख पक्ष हैं। निश्चय ही यह औपनिषदिक वेदान्त भारतीय मनीषा और चिंतन की महान् उपलब्धि है। ऐतिहासिक क्रम से इस वेदान्त की प्रसिद्धि अद्वैतवाद के रूप में हुई। शंकराचार्य ने औपनिषदिक अद्वैतवाद की नव प्रतिष्ठा की। भारतीय अद्वैत दर्शन ज्ञान-योग, भक्ति-योग और कर्म-योग के मार्गों का अवलम्बन लेता है। ज्ञान तो वेदान्त दर्शन के केन्द्र में है, किन्तु भक्ति और कर्म की निष्पत्तियां भी समान रूप से स्वीकृत हैं।

महाप्राण निराला भी मूलत: इसी ज्ञानमार्गी दर्शन के अनुयायी माने जाते हैं। यद्यपि वह तत्वत: आत्मज्ञान के अनुभवकर्ता हैं, परन्तु उनमें भावात्मकता की भी विशिष्टता रही है। `तुम और मैं` शीर्षक कविता में उन्होंने आत्मतत्व और परमात्म तत्व के सम्बन्ध की सुन्दर झांकी दिखायी है-

" तुम दिनकर के खर-किरण-जाल,

मैं सरसिज की मुसकान;

तुम वर्षों के बीते वियोग

मैं हूं पिछली पहचान;

तुम योग और मैं सिद्धि,

तुम हो रागानुग निश्छल तप

मैं शुचिता सरल समृद्धि।" — अपरा

विराट् सत्ता के प्रति संकेत जहां उनके ज्ञानपक्ष को सूचित करते हैं, वहां ` मां ` और ` देवि ` आदि सम्बोधन मातृशक्ति का माहात्म्य प्रदर्शित करते हैं। निराला ने ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग का समन्वय ही नहीं, उनकी एकात्मकता भी प्रतिपादित की है। ये सम्बन्ध शुद्ध ज्ञान की अभिव्यक्ति नहीं हैं, वरन् ज्ञान की काव्यानुभूति में परिणति को प्रतिबिम्बित करते हैं। ` पंचवटी - प्रसंग ` में राम के मुख से इसी समन्वय का आख्यान किया गया है-

" भक्ति, योग, कर्म, ज्ञान एक ही हैं
यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते हैं।
एक ही है, दूसरा नहीं है कुछ-
द्वैत भाव ही है भ्रम,
तो भी प्रिये,
भ्रम के ही भीतर से
भ्रम के पार जाना है।
मुनियों ने मनुष्यों के मन की गति
सोच ली थी पहले ही।
इसीलिए द्वैतभाव- भावुकों में
भक्ति की भावना भरी-
प्रेम के पिपासुओं को
सेवाजन्य प्रेम का
जो अति ही पवित्र है,
उपदेश दिया।" — ( पंचवटी - प्रसंग )

निराला जी कर्मयोग को ` प्रेम ` शब्द द्वारा अभिव्यक्त करते हैं और उसे सेवाजन्य प्रेम की अभिधा देते हैं। यह प्रेम साधारण जनों के लिए दुःसाध्य है-

` प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भू पर
प्रेम की महोर्मिमाला तोड़ देती क्षुद्र ठाट।
जिसमें संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग
तृण सम बह जाते हैं।
हाथ मलते भोगी,
धड़कते हैं कलेजे उन कायरों के
सुन- सुन प्रेम- सिंधु का
सर्वस्व त्याग गर्जन घन। ` —( पंचवटी प्रसंग )

यही प्रेम साधक को कर्म की ओर प्रवृत्त करता है। निराला का यह ज्ञान, भक्ति और कर्म सम्बन्धी भारतीय वेदान्त की शिक्षा के अतिशय अनुरूप है। कुछ लोग निराला को स्वामी विवेकानन्द के नव्य वेदान्त का अनुयायी मात्र मानते हैं, किन्तु उनकी जीवन- चेतना केवल आध्यात्मिक भूमिका में सीमित न रहकर पूर्णतः मानवतावादी और मानववादी हो गयी है।

कर्म की तात्विकता के सम्बन्ध में निराला को अशेष विश्वास था। उनकी ` अभिलाष ` शीर्षक कविता में उनकी यह धारणा निरावृत होकर अभिव्यक्त हुई है। नैष्कर्म्य की प्रचारक दार्शनिकता में

कर्म मात्र बन्धनकारक है, परन्तु निराला जी कहते हैं-

" देखा दुखी एक निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
फट उमड़ वेदना आयी ।
-- -- --

उसकी अश्रु- भरी आंखों पर मेरे करुणांचल का स्पर्श करता मेरी प्रगति अनन्त, किन्तु तो भी मैं नहीं विमर्श;

छूटता है यद्यपि अधिवास,
किन्तु फिर भी न मुझे कुछ त्रास ।" — ( अधिवास )

' योग ' भारतीय संस्कृति का एक महनीय शब्द है जिसकी महत्ता गीताकार ने भी प्रतिपादित की है । विवेकानन्द के वेदान्त में " इस ब्रह्म तत्व की अनुभूति का एक मार्ग योग है " कहकर इसे प्रतिष्ठित किया गया है । ' योग ' का समर्थन निराला जी ने 'पंचवटी - प्रसंग ' में राम के मुख से कराया है-

" आती जिज्ञासा जिज्ञासु के मस्तिष्क में जब-
भ्रम से जब भागने की इच्छा तब होती है-
-- -- --
जागता है जीव तब,
योग सीखता है वह योगियों के साथ रह,
स्थूल से वह सूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाता; "
— ( पंचवटी - प्रसंग )

योग की साधनाएं आत्म में ही परमात्म तत्व को देखने की किसी वैयक्तिक उपलब्धि के लिए नहीं, वरन् मानव आत्मा को अजेय-शक्ति प्रदान करने के लिए काम में लायी गयी हैं। यही साधना `राम की शक्ति-पूजा` में घोर निराशा की परिस्थिति में राम को अजेय शक्ति देती और उनकी विजय का कारण बनती है-

"बोले विश्वस्त कंठ से जाम्बवान--" रघुवर,
विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण,
हे पुरुष- सिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर;"
— (राम की शक्ति-पूजा)

छायावादी काव्यभाषा में निहित सांस्कृतिक आयाम के दर्शनार्थ निराला की एक सशक्त रचना `राम की शक्ति-पूजा` की विवेचना अति आवश्यक है। `राम की शक्ति- पूजा` का कथानक परम्परित राम कथा एवं कवि की कल्पना का एक अद्भुत संयोग है। राम के मन में आगामी युद्ध की विभीषिका उपस्थित है। वह रावण की अप्रतिहत शक्ति को देखकर चिंतित और निराश हैं। अपने सहयोगियों की सलाह पर वह शक्ति- साधना का अनुष्ठान करते हैं। इस पूजा के अनुक्रम में उन्हें एक बार फिर हताश होना पड़ता है जबकि गणना में एक कमल-पुष्प की कमी रह जाती है। पुष्प के बदले में आंख चढ़ाने के विचार से संयुत होकर वे ज्योंहि अपनी एक आंख निकालने

के लिए उद्यत होते हैं, माँ दुर्गा प्रगट होती हैं और उन्हें विजय का आश्वासन देती हैं। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर रचित इस लघु आख्यान को कवि ने एक सशक्त काव्यभाषा प्रदान की है।

'राम की शक्ति- पूजा' की काव्यभाषा पर प्रकाश डालते हुए डा० रेखा ने लिखा है:

"'राम की शक्ति- पूजा' ( १९३६ ) में मानव की अस्तित्वगत छटपटाहट और उससे उबरने के लिए उसकी सक्रिय संकल्प-शक्ति को उद्घाटित करते हुए निराला की काव्यभाषा ने जहां खड़ीबोली हिन्दी के इतिहास में निजी मौलिक प्रकृति तथा अप्रतिहत क्षमता के अविस्मरणीय आयामों को विकसित किया, वहीं भाषा को भावों की वाहिका के रूप में एक गौण स्थान देने वाली सूक्ष्म संवेदन से रहित समीक्षा- दृष्टि का प्रत्याख्यान भी किया।"[1]

यहाँ पर डा० खरे ने यह स्पष्ट कर दिया है कि निराला की काव्यभाषा खड़ीबोली के हिन्दी साहित्य की घिसी- पिटी लीक से हटकर एक मौलिक रूप में प्रतिस्थापित हुई है। इसी शृंखला में निराला ने काव्यभाषा के सांस्कृतिक आयामों को भी विकसित किया है। राम और रावण के पौराणिक आख्यान को कवि के सर्जनशील शिल्प ने अस्तित्व की टकराहट और उससे व्यक्तित्व के उत्तीर्ण होने की दिशा में जैसे मोड़ दिया है, वह चेतना के इतिहास को विस्तार

---

१- डा० रेखा खरे : निराला की कविताएं और काव्यभाषा, पृ०-११६

देता है। निराला की ओजस्वी भाषा, अपने परिपक्व गठन के बल पर तुलसीदास के भगवत् स्वरूप राम को नितान्त मानवीय बना देती है और यह बाधा, पराजय, आशा आदि की संश्लिष्ट अनुभूतियों की टकराहट और उनसे उत्तीर्ण होने का प्रयास करती हुई राम की अदम्य जिजीविषा है, जो उन्हें 'मानस' के राम से अधिक विराट् स्वरूप प्रदान करती है। 'राम की शक्ति-पूजा' पर दृष्टि डालते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है-

"राम की शक्ति-पूजा" जैसी नाटकीयता निराला जी की और किसी भी कविता में नहीं। यहां उन्होंने अपने जीवन की अनुभूति, निराशा, पराजय, संघर्ष और विजय-कामना को नाटकीय रूप दिया है। आकाश और समुद्र के सम्मिलित गर्जन में राम का व्यक्तित्व कुछ क्षण को मानो खो जाता है। यह क्रियाशील तमोगुण जीवन की परिस्थितियां हैं जिन्हें परास्त करने के लिए राम सदा साधनों की खोज करते रहे हैं। राम शक्ति की साधना करते हैं। यह साधना और भी महत्वपूर्ण हो उठती है जब हम उस चित्र का स्मरण करते हैं जहां राम समुद्र के किनारे अंधेरे में अकेले बैठे हैं, सिर पर एक मशाल जल रही है और समुद्र के गरजने के साथ रावण का उन्मत्त अट्टहास सुनायी देता है। यह राम तुलसीदास के मर्यादा पुरुषोत्तम नहीं हैं। इनमें ब्रह्म की पूर्णता के बदले मनुष्य की अपूर्णता है। वह अधीर हो जाते हैं, सीता की स्मृति से मोहित हो जाते हैं, आंखों से आंसू भी गिरने लगते हैं, इसीलिए शक्ति की साधना इतनी महत्वपूर्ण है। राम के रूप में

कवि ने जीवन की परिस्थितियों को एक बार फिर चुनौती दी है। उसके नायक युद्ध के लिए फिर तैयार होते हैं। लेकिन यह महाशक्ति एक दैवी शक्ति है। शक्ति का आकर राम का हाथ पकड़ना एक मनोमुग्धकारी चमत्कार मात्र है। राम के संघर्ष का चित्र जितना प्रभावशाली है, उतना उनकी विजय का नहीं। कवि के जीवन में संघर्ष ही सत्य रूप में आया है। विजय की कामना अपूर्ण रही है।"[१] कविता का प्रारम्भ ही बड़े उदात्त ढंग से होता है-

> " रवि हुआ अस्त; ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
> रह गया राम- रावण का अपराजेय समर
> आज का, ----- ।"
>
> — ( राम की शक्ति - पूजा )

अपराजेय समर के वर्णन से भव्य समारम्भ ही इस बात का सूचक है कि कवि व्यापक एवं गहन संवेदना को लेकर आगे बढ़ रहा है। आरम्भ से ही कवि की दृष्टि भाव और भाषा के समतोलन पर रही है,जिसकी पुष्टि ' रवि हुआ अस्त ' द्वारा होती है। ' रवि हुआ अस्त '- मानों राम - सूर्यवंशी राम - की पराजय को स्वर देता है; किन्तु कविता के मध्य में ' निशि हुई विगत, नभ के ललाट पर प्रथम किरण फूटी रघुनन्दन के दृग महिमा- ज्योति- हिरण; ' में राम की विजय की प्रच्छन्न व्यंजना है जो निराला की संरचनागत संगति के उदाहरण हैं।

---

१- निराला : डा० रामविलास शर्मा, पृ०- ६७

निराला ने राम की मन:स्थिति का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह बहुत ही मर्मस्पर्शी बन पड़ा है-

" अनिमेष- राम- विश्वजिद्दिव्य- शर- भंग- भाव,—
विद्धांग- बद्ध- कोदण्ड- मुष्टि- खर- रुधिर स्राव, "

इसमें राम का परम्परागत सर्वशक्तिमान रूप मनोवैज्ञानिक सत्य के आगे ओझल हो गया है। राम का जो असहाय रूप प्रस्तुत किया गया है वह आधुनिक संवेदना के निकट आने में काफी सक्षम है। निराला ने तुलसीदास के भगवत् स्वरूप राम को अत्यन्त मानवीय स्तर पर लाकर प्रस्तुत किया है। अन्यथा तुलसीदास के राम का स्वरूप तो कुछ और ही है-

" एहि मंह रघुपति-नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा
मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी ।। "
—( रामचरितमानस )

निराला के अनेक प्रयोगों में सांस्कृतिक सन्दर्भ विशदता से निहित है। राम की विजय-भावना :

" सिहरा तन, क्षण भर भूला मन, लहरा समस्त,
हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त,
फूटी स्मिति सीता-ध्यान- लीन राम के अधर,
फिर विश्व-विजय- भावना हृदय में आयी भर, "

— ( राम की शक्ति- पूजा )

उपर्युक्त पंक्तियां सीता की ` कुमारिका- छवि ` की स्मृति से राम के द्विधाग्रस्त मानस में उत्पन्न हुई है, किन्तु अति विराट्-शक्ति किस प्रकार उसे मलिन कर देती है-

` फिर देखी भीमा- मूर्ति, आज रण देखी जो
आच्छादित किये हुए सम्मुख समग्र नभ को,
ज्योतिर्मय अस्त्र सकल बुझ-बुझकर हुए क्षीण,
पा महानिलय उस तन में क्षण में हुए लीन;
लख शंकाकुल हो गये अतुल- बल शेष- शयन,
खिंच गये दृगों में सीता के राममय नयन; `

—( राम की शक्ति- पूजा )

देवी के इस विराट् और प्रचण्ड रूप को प्रस्तुत कर निराला जी ने पुराकाल से आ रही आदि- शक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है, जिसके समक्ष ` अतुल- बल शेष- शयन ` राम भी शंकाकुल हो उठते हैं। `खिंच गये दृगों में सीता के राममय नयन ` में सांस्कृतिक सन्दर्भ की विशदता निहित है। यहां पर ` राम मय नयन ` भारतीय नारी की निष्ठा, साधना, समर्पण और स्नेह को ध्वनित करता है। इसी प्रसंग में निराला की निम्नलिखित पंक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं जिनमें ` पूजित ` शब्द का प्रयोग सांस्कृतिक आयाम को बल देता है-

उस अरण्य में- बैठी प्रिया - अधीर
कितने पूजित दिन अब तक हैं व्यर्थ—`

— ( बादल- राग )

निराला ने राम के अनन्य सेवक हनुमान द्वारा राम के ब्रह्मत्व की जो परिकल्पना करवायी है, वह निराला की भारतीय संस्कृति एवं चिन्तन के प्रति अत्यन्त सजगता का ही द्योतक है-

" बैठे मारुति देखते राम-चरणारविन्द—
युग ` अस्ति- नास्ति ` के राम-रूप गुण-गण- अनिन्द्य,
साधना- मध्य भी साम्य- वाम- कर दक्षिण- पद,
दक्षिण- कर- तल पर वाम चरण, कपिवर गद्गद्
पा सत्य, सच्चिदानन्द रूप, विश्राम - धाम,
जपते सभक्ति अजपा विभक्त हो राम - नाम।"

—( राम की शक्ति- पूजा )

यहाँ द्वितीय पंक्ति में ` अस्ति - नास्ति ` के प्रयोग द्वारा कवि ने औपनिषदिक सत्य को प्रतिभासित किया है। दूसरी तरफ ` पा सत्य, सच्चिदानन्द रूप ` भी ` सत्यं ज्ञानं सच्चिदानन्द रूपं ( शुक रहस्योपनिषद् ) के प्रभाव का बोध कराता है। ` जपते सभक्ति अजपा विभक्त हो राम- नाम ` में कवि ने महाबली हनुमान द्वारा राम की भक्ति के द्वारा व्यक्ति के सम्बन्ध में नाम के माहात्म्य का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार उनकी काव्यभाषा पर प्राचीन संस्कृति की विशिष्ट छाप है, जिसकी परिपुष्टि निम्नलिखित पंक्तियों से हो सकती है-

" ऊँ अस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन् महस्ते ।

विष्णो सुमति भजामहे ऊँ तत्सत ।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने 'राम की शक्ति- पूजा' में काव्यभाषा का एक नया सांस्कृतिक आयाम पूर्णतया विकसित किया है। राम की शक्ति- पूजा' की भाषा के सन्दर्भ में श्री दूधनाथ सिंह के विचार इस प्रकार हैं-

" --- विवरण की भाषा से निजात पाने या उस पर काबू पाने के लिए छायावादी कवि शब्द के भीतर ही लयात्मक दृश्य या श्रव्य बिम्बों की सृष्टि करता था। शब्द के लयात्मक बिम्बों का ही उपयोग निराला ने 'राम की शक्ति- पूजा' में करके उसके विवरण की सपाटता को भीना किया है।"[2]

इस सन्दर्भ में उनकी एक अन्य सशक्त रचना 'तुलसीदास' का मूल्यांकन भी अपेक्षणीय है। 'तुलसीदास' में कवि ने भाषा के अभिजात संस्कार को अपनी गहन सर्जनात्मकता के बल पर निखारने का हर संभव प्रयास किया है। इसका कथानक तुलसीदास के सन्दर्भ में प्रचलित इस लोकापवाद पर आधारित है कि एक बार तुलसीदास अपनी पत्नी के मायके चले जाने पर मुर्दे पर सवार होकर आधी रात को यमुना पार उससे मिलने ससुराल पहुंच गये थे। जहां पर रस्सी के भ्रम में सांप को पकड़कर ऊपर चढ़े थे। इसी लोकापवाद पर ही निराला ने

---

१- ऋग्वेद- १ । ५ । ६ । ३

२- दूधनाथ सिंह : निराला : आत्महन्ता आस्था, पृ०- ६५६

अपनी सर्जनात्मकता के सहारे एक सुन्दर काव्य की रचना की है।

मध्यकाल का सामाजिक पतन इस कथा की पृष्ठभूमि है। मूल चित्र गोस्वामी तुलसीदास के अन्तर्द्वन्द्व का है। प्रारम्भ के दस बंधों में तुलसीदास ने मुसलमानों के आगमन के समय की भारतीय राजनीतिक स्थिति का उल्लेख किया है और अन्त में तुलसीदास के व्यक्तित्व का चित्र ही मुखर होकर उभरा है। इसकी मूल समस्या पतनोन्मुख संस्कृति की सुरक्षा की है। इस सन्दर्भ में रेखा खरे ने लिखा है :

' मध्यकालीन विघटित संस्कृति में ह्रासोन्मुख मानव- मूल्यों की विडम्बना पर कवि ने गहरी दृष्टि डाली है। इस सन्दर्भ में गोस्वामी तुलसीदास और उनकी पत्नी रत्नावली की लोक-प्रचलित कथा का प्रस्तुतीकरण केवल माध्यम भर है। मूल वस्तु विराट सांस्कृतिक प्रश्न है, जिसकी अन्तरंग जटिलता को झेलने के लिए कवि ने उसी के वजन की—शायद उसे सम्पूर्णता प्रदान करने के लिए उससे भी बड़ी—जटिलता शब्दों के रूप में प्रस्तुत की है।'[१]

' तुलसीदास ' में कविता का प्रारम्भ ही अस्त होते हुए सांस्कृतिक सूर्य के कलात्मक चित्र के साथ होता है। यद्यपि इसकी पृष्ठभूमि मध्यकालीन भारत की है, जब मुसलमानों के आक्रमण से पराभूत देश जर्जर हो गया था, किन्तु काव्यभाषा की उन्मुक्त प्रकृति के कारण

---

१- डा० रेखा खरे : निराला की कविताएं और काव्यभाषा, पृ०- १४०

यह सांस्कृतिक ह्रास सार्वभौम स्तर पर गृहीत हो सकता है। इस विघटित संस्कृति के रूप को शब्दों में ढालते हुए कवि ने शब्दों की विशिष्ट संयोजना की है-

" भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे- तमस्तूर्य दिङ्मंडल;
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान,
है उर्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल।"
— ( तुलसीदास )

यहां पर प्रयुक्त एक - एक शब्द संस्कृतिचेता कवि की आन्तरिक प्रक्रिया का प्रतिफलन है। भारत का अर्थ है प्रकाश- सम्पन्न। उस भारत का सूर्य प्रकाशमान सांस्कृतिक गौरव विलुप्त हो गया है। `प्रभापूर्य और शीतलच्छाय` सांस्कृतिक सूर्य के दो विशेषण हैं। `तमस्तूर्य दिङ्मंडल` का प्रयोग करके कवि ने चतुर्दिक व्याप्त अंधकार को अत्यन्त सूक्ष्म स्तर पर लाकर चित्रित किया है। भाषा की मुक्ति का प्रयास निराला की रचनाओं में सर्वत्र देखा जा सकता है। वे भाषा की सर्जनात्मकता शब्द में न मानकर शब्द- प्रयोग में मानते हैं। यहां पर ` तमस्तूर्य ` का प्रयोग उल्लेखनीय है। इसी प्रकार ` निश्चलत्प्राण पर शतदल ` का प्रयोग भी साभिप्राय है। सूर्यास्त होने पर कमल का मुरझाना स्वाभाविक है तथा संस्कृति के विघटित होने पर सही मायने में

स्वस्थ जीवन की कल्पना भी दुष्कर है। नवीन सन्दर्भ में प्रयुक्त किये जाने पर एक सामान्य शब्द भी अर्थ की कितनी विस्तृत छायाएं उद्भूत कर सकता है- ' शतदल ' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

इसी प्रकार सांस्कृतिक सन्ध्या की सर्वव्यापी सत्ता को निराला एक अन्य विराट् अप्रस्तुत द्वारा मूर्तिमंत करते हैं-

' शत- शत अब्दों का सान्ध्य- काल
यह आकुंचित भ्रू कुटिल भाल
छाया अम्बर पर जलद- जाल ज्यों दुस्तर '
— ( तुलसीदास )

देश के सांस्कृतिक पतन से खिन्न कवि का हृदय आकाश पर छाए हुए ' दुस्तर जलद- जाल ' से सांस्कृतिक- सन्ध्या को उपमित करता है।

भारत के भावी कवि से आत्मिक स्तर पर जुड़कर प्रकृति के जड़ पदार्थ अपनी वेदना- सूक्ष्म स्तर पर संस्कृति की समस्या- को यों प्रस्तुत करते हैं-

' कहता प्रतिजड़, ' जंगम जीवन !
भूले थे अब तक बन्धु प्रमन
यह हताश्वास मन भार श्वास भर बहता;
तुम रहे छोड़ गृह मेरे कवि,
देखो यह धूलि- धूसरित छवि,
छाया इस पर केवल जड़ रवि खर दहता।' — (तुलसीदास)

काव्य के अन्तिम चरण में कवि का मानस क्रमशः दूर से दूरतर तथा दूरतम स्तर में प्रवेश करता ही जाता है। मन की इस ऊर्ध्व उड़ान में तुलसीदास तत्कालीन भारतीय संस्कृति का वास्तविक आभास पा जाते हैं। पराधीन भारतीय मानस का सही चित्रांकन निम्नलिखित छन्द में हुआ है-

" बंध भिन्न- भिन्न भावों के दल
क्षुद्र से क्षुद्रतर हुए विकल।
पूजा में भी प्रतिरोध - अनल है जलता,
हो रहा भस्म अपना जीवन,
चेतनाहीन फिर भी चेतन
अपने ही मन को यों प्रतिमन है छलता।"
— ( तुलसीदास )

इस प्रकार " तुलसीदास " में कवि ने सांस्कृतिकता को ध्यान में रखते हुए भाषा एवं भाव का अपूर्व समन्वय स्थापित किया है। निराला की सांस्कृतिक दृष्टि के सन्दर्भ में डा० रामरतन भटनागर ने लिखा है-

" निराला के साहित्यिक मूल्यांकन में सांस्कृतिक दृष्टि की उपेक्षा नहीं की जा सकती।"[१] इस सन्दर्भ में दूधनाथ सिंह के विचार इस प्रकार हैं-

" तुलसी के लोक-आख्यान को सुरक्षित रखने के लिए कवि ने

---

१- निराला और नवजागरण, पृ०- ३०५

भाषा- बन्ध की इस पुरातन नवीनता, या नवीनीकृत पुरातनता का सहारा लिया है। इसलिए 'तुलसीदास' कविता के भूमिका- लेखक का यह मत उचित नहीं जान पड़ता कि " यहाँ रहस्यवाद से सम्बन्ध रखने वाली भावना का विश्लेषण करना ही कवि का इष्ट रहा है।" कवि का इष्ट तो रचनात्मकता की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। भाषा का यह तत्सम, किन्तु कुछ - कुछ दार्शनिक रहस्यमय शब्दावली का उपयोग तो लोक- आख्यान और तुलसी के इतिवृत्त - अर्थ को एकतान रखने के लिए किया गया है। इसीलिए मन की इस ऊर्ध्वगामिता में भी तुलसी 'देश की राहुग्रस्त - आभा' को देखना भूलते नहीं। उनका जीवन इस जन- वेदना से भस्मसात हो रहा है। वे धीरे - धीरे जीवन के व्यापक- विराट् अनुभव को उसी तरह अपनी रचना के लिए संचित करते हैं, जैसे ऋतु के प्रभाव को कोई पेड़। वह उसी तरह अपने अन्तर को धीरे - धीरे समृद्ध और पूर्ण करते जाते हैं। उन्हें शोषण- त्रास, मूक - पशुओं की तरह सवर्णों के ग्रास - शूद्रों की यातना की तीखी अनुभूति होती है।"[१]

---

१- दूधनाथ सिंह : निराला आत्महन्ता आस्था, पृ०- १६३

# चतुर्थ अध्याय

## छायावादी काव्यभाषा की सर्जनात्मक निष्पत्ति

### (प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी )

छायावादी काव्य की भाषा अपने पूर्ववर्ती युग की काव्यभाषा से अनेक अर्थों में भिन्न है। इसकी व्यंजना-शक्ति, इसमें प्रयोग किये गये प्रतीक और बिम्ब तथा सबसे अधिक भाषा और शब्दों के सर्जनात्मक प्रयोग की आकांक्षा छायावादी काव्यभाषा को एक सर्वथा नया धरातल प्रदान करती है। भाषा और शब्दों की सर्जनात्मकता को निष्पन्न करने के लिए किसी निश्चित नियम का अनुसरण नहीं किया गया है। फिर भी अपने प्रयोगों में छायावादी कवि इस बात को लेकर बराबर सतर्क है कि पुरानी लीकों को पीटने से सर्जनात्मकता का मार्ग प्रशस्त नहीं होता। इसीलिए वह किसी भी अनुभव को जब किसी प्रतीक या बिम्ब के सहारे रूपायित करता है, तो उसकी यह कोशिश होती है कि उसका यह रूपायन यथा- सम्भव नया और ताजा हो। यह सही है कि छायावादी कविता की भाषा में तत्सम शब्दावली का प्रयोग अधिक हुआ है विशेषकर प्रसाद और निराला की भाषा में; जिसकी वजह से भाषा में एक प्रकार की कृत्रिमता, क्लिष्टता और दुरूहता के तत्व भी आ गये हैं। इस दृष्टि से महादेवी वर्मा अधिक सहज भाषा

का प्रयोग करती हैं और निराला ने भी अपनी बाद की कविताओं में भाषा के तत्सम शब्द - प्रयोगों से बचने की कोशिश सफलतापूर्वक की है; किन्तु तत्सम प्रयोगों में भी एक ताज़गी और सर्जनात्मकता छायावादी काव्यभाषा की विशिष्ट पहचान है।

इस सन्दर्भ में प्रसाद जी के कुछ सर्जनात्मक प्रयोगों को देखा जा सकता है-

" तू भूल न री, पंकज वन में,
जीवन के इस सूने पथ में,
ओ प्यार- पुलक से भरी ढुलक।
आ चूम पुलिन के विरस अधर।"

— लहर

प्रस्तुत कविता पुरी के समुद्र तट पर लिखी गयी है। यह कविता प्रसाद जी ने लहरों को सम्बोधित करते हुए लिखी है। कवि की कल्पना है कि कमल- समूहों के बीच में लहरें सोयी हुई हैं, अतः उन लहरों को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है कि हे लहरों ! तुम सब कमल- वन तक ही अपने को सीमित रखकर अपने जीवन में सूनापन मत भरो अर्थात् अपने जीवन को नीरस मत बनाओ। पुनः कवि समुद्र के दोनों रेतीले तटों को देखकर कल्पना करता है मानो ये ( दोनों तट ) नायक के नीरस ( सूखे ) होठ हों। नायिका के रूप में प्रस्तुत लहरों

से कवि नायक के सूखे होठों को चूमने का आग्रह कर रहा है तथा उनके जीवन में जीवन्तता भर देने के लिए उन्हें उत्प्रेरित कर रहा है। ` चूम ` शब्द भी साभिप्राय है। ` पुलिन ` को ` विरस-अधर ` कहा गया है अत: लहरों द्वारा किनारे को ` छूने ` की जगह ` चूमना ` शब्द अधिक सर्जनात्मक है।

इस कविता में कवि ने लहरों और समुद्र को लेकर एक सर्जनात्मक आयाम विकसित किया है जो कि एक सर्वथा नया प्रयोग है। `पुलिन के विरस अधर ` के रूप में प्रेमी के सूखे ( निराशा एवं वियोग के कारण ) होठों का वर्णन करके कवि ने भाषा को नयी अर्थवत्ता प्रदान की है।

ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग निम्न है:-

" मेरे उस यौवन के मालती- मुकुल में
रंध्र खोजती थीं, रजनी की नीली किरणें
उसे उकसाने को- हंसाने को।
पागल हुई मैं अपनी ही मृदु गंध से-
कस्तूरी मृग जैसी।"[१]

प्रस्तुत कविता में प्रसाद जी ने गुजरात की रूपसी कमलावती

---

१- लहर - प्रलय की छाया- जयशंकर प्रसाद, पृ०२

द्वारा अपने ही यौवन के विकास का वर्णन कराया गया है। यहां पर यौवन को मालती पुष्प की कली के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें प्रवेश करने के लिए रजनी की नीली किरणें छिद्र ढूंढ रही हैं ताकि वे कली में अन्दर प्रविष्ट होकर उसे उत्प्रेरित करें, हंसायें या विकसित ( व्यंजना से ) करें। इस प्रकार किशोरावस्था से युवावस्था की ओर बढ़ने के क्रम का वर्णन कवि ने बिल्कुल नये ढंग से किया है जिसे कवि का सर्जनात्मक प्रयोग कहा जा सकता है।

पुन: कवि ने रूपसी कमलावती द्वारा यह कहलवाया है कि जिस प्रकार कस्तूरी की सुगंध का दीवाना मृग उसे पाने के लिए इधर-उधर दौड़ता- फिरता है, जबकि वह इस तथ्य से अनभिज्ञ होता है कि कस्तूरी का अस्तित्व तो उसकी नाभि में ही है। ठीक इसी प्रकार गुर्जर कन्या कमलावती भी अपने सौन्दर्य बोध से सर्वथा अनभिज्ञ है जबकि वह स्वयं अत्यन्त रूपवती ~~मानी जाती~~ है।

यहां पर युवावस्था के सौन्दर्य का बोध कराने के लिए `मृदुगंध` शब्द प्रयुक्त किया गया है जिसमें गहरी अर्थवत्ता व्यंजित होती है तथा जो भाषा की दृष्टि से एक नया प्रयोग है।

इसी प्रकार प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कृति `कामायनी` में अनेक ऐसे स्थल हैं, जहां कवि ने भाषा का सर्जनात्मक आयाम पूर्णरूपेण विकसित किया है। इस सन्दर्भ में `आशा सर्ग` का यह पद लिया

जा सकता है जिसमें अर्थ की सर्जनात्मकता के साथ ही एक सशक्त बिम्ब का प्रयोग हुआ है-

" सिन्धु सेज पर धरावधू
अब तनिक संकुचित बैठी सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में,
मान किए - सी ऐंठी सी । "

प्रस्तुत पद में कवि ने जलप्लावन के उतरने पर सागर के बीच से जहां - तहां उभरती हुई धरती को ऐसी नववधू के रूप में परिकल्पित एवं रूपायित किया है जो प्रणय-रात्रि ( सुहाग रात ) के प्रथम-प्रणय की हलचल -स्मृति में संकुचित एवं मान किए - सी बैठी हो ।

जलप्लावन के पश्चात् पानी का स्तर नीचा हो रहा है जिससे समुद्र के बीच में कहीं - कहीं धरती का उभार प्रकट हो रहा है जिसे देखकर कवि कल्पना करता है, मानो वह ( उभार ) धरती नहीं,वरन् नव- परिणीता- वधू है जो समुद्र की शैय्या पर थोड़े संकोच के साथ बैठी हुई है। यहां पर ' संकुचित ' शब्द का प्रयोग ' नववधू ' के सन्दर्भ में बड़ा ही सटीक है क्योंकि पुरुष के स्पर्श से सर्वथा अनभिज्ञ नववधू प्रथम - प्रणय के कारण स्वभावत: संकुचित रहती है। थोड़ी-सी उभरती हुई धरती के लिए इस प्रकार का प्रयोग सचमुच ही

कल्पनाशील एवं सक्षम है।

पुनः कवि कल्पना करता है ( धरती की निश्चलता को देखकर ); मानो वह नववधू प्रणय-रात्रि ( सुहाग- रात ) की उथल -पुथल को स्मरण करके मान किए हुए सी या थोड़ा नाराज सी बैठी है। ` सुहाग- रात ` के लिए `प्रणय-निशा ` का प्रयोग यद्यपि असाधारण है किन्तु कवि ने अपनी प्रतिभा से एक विचित्र सादृश्य का उद्घाटन किया है। यहां पर कवि ने दो विरोधी परिस्थितियों में इस प्रकार ( सामन्जस्य स्थापित किया है कि पाठक को विरोध महसूस ही नहीं होता। एक तरफ तो निष्प्राण, ऊबड़- खाबड़ कुरूपता की प्रतिमूर्ति ` धरती ` दूसरी तरफ सौन्दर्य के उपादानों से सुसज्जित, प्रेम एवं उमंग से तरंगायित जीवन्तता एवं सौन्दर्य की पराकाष्ठा ` नववधू,` जिसमें तुलना की कोई गुंजाइश नहीं, लेकिन कवि की प्रतिमा ने इन्हें एक ऐसे केन्द्र- बिन्दु पर ला खड़ा किया है जहां पाठक स्वाभाविकता महसूस करता है। `

` प्रणय- निशा ` और ` सुहाग- रात ` की क्रियाएं तुलनीय हैं। जिस प्रकार प्रलय- काल में आंधी, तूफान, तोड़-फोड़, गर्जना इत्यादि की हलचल भरी प्रक्रियाएं चलती हैं उसी प्रकार सुहाग-रात में भी प्रणय की हलचल भरी प्रक्रियाएं सम्पन्न होती हैं जिनसे नववधू सर्वथा अनभिज्ञ होती है। इसी लिए प्रथमतः इस हलचल भरी

दौर से गुज़रने के कारण वह इस स्मृति से जल्दी उबर नहीं पाती, जिससे नाराज सी बैठी रहती है।

इस प्रकार कवि की यह परिकल्पना बड़ी ही स्वाभाविक एवं सहज है, वह भी भाषा के नये सन्दर्भों को प्रस्तुत करते हुए। प्रस्तुत कविता सर्जनात्मक होने के साथ ही एक सशक्त बिम्ब उकेरती है।

'श्रद्धा- सर्ग' के निम्नलिखित पद में 'श्रद्धा' के सौन्दर्य- वर्णन में कवि ने भाषा का सर्जनात्मक आयाम- बिलकुल नये प्रयोग के साथ विकसित किया है-

" और देखा वह सुन्दर दृश्य

नयन का इन्द्रजाल अभिराम;

कुसुम- वैभव में लता समान

चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।"

प्रस्तुत पद में कवि ने उस समय का चित्रांकन किया है जब प्रलयोपरान्त घूमती हुई श्रद्धा मनु का प्रथम दर्शन करती है। श्रद्धा के अपूर्व सौन्दर्य को देखकर मनु आश्चर्यान्वित हो उठते हैं और सोचने लगते हैं कि कहीं यह मेरी आँखों का सुन्दर जादू तो नहीं है? तात्पर्य है कि मनु श्रद्धा के सौन्दर्य की पराकाष्ठा के कारण उसकी सत्यता का विश्वास ही नहीं कर पाते। कवि ने श्रद्धा के सौन्दर्य को व्यंजित

करने के लिए जिन उपादानों का प्रयोग किया है, वे इस प्रकार

` कुसुम- वैभव में लता- समान ` तथा ` चन्द्रिका से लिपटा घन

मनु के मन में श्रद्धा के लिए उस लता की परिकल्पना जागृत हो र

जो पुष्पों से पूर्णतया लदी हुई हो, या कि ऐसे बादल ( घनश्य

का चित्र उपस्थित होता था जो चांदनी द्वारा पूरी तरह से वल

` कुसुम- वैभव ` से कवि का तात्पर्य ऐसे कुसुम पुंजों से है

रंग, गंध और पराग से परिपूर्ण हो । इस प्रकार के पुष्पों के

से ढकी हुई लता के समान कवि ने श्रद्धा के रूप की परिकल्पना की

जिसमें लता छिप सी जाती है और पुष्पों का ही वैभव उभर कर

आता है । या तो फिर कवि ऐसे घनश्याम को उपादान के रू

लेता है जो चांदनी द्वारा पूरी तरह से घिरा हुआ है । यहां

कवि ने ` चन्द्रिका ` को वस्तु का आकार दे दिया है जो कि

स्वाभाविक रूप में सूक्ष्म है ।

इस प्रकार किसी नायिका के सौन्दर्य वर्णन के लिए कवि

एक वर्णनात्मक रूप प्रयोग के तौर पर लिया है । इसी प्रकार `

सर्ग ` का ही दूसरा पद इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

" नील परिधान बीच सुकुमार

खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,

खिला हो ज्यों बिजली का फूल,

मेघ- वन बीच गुलाबी रंग ।।"

प्रस्तुत कविता में प्रसाद जी ने " कामायनी " की नायिका श्रद्धा के सौन्दर्य का वर्णन किया है। कवि मनु के शब्दों में कहता है कि श्रद्धा नीला वस्त्र धारण किए हुए है जो कि पारदर्शी भी है जिससे उसके कोमल, सुन्दर अधखुले अंग उभर कर सामने आते हैं जिन्हें देखकर कवि कल्पना करता है मानों ये श्रद्धा के शरीर के अवयव न होकर बादलों के बीच खिला हुआ बिजली का फूल हो।

यद्यपि कवि के कथन का एक ही उपर्युक्त अर्थ स्पष्ट होता है, परन्तु " खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ- वन बीच गुलाबी रंग " कहते ही पाठक के आंखों के समक्ष बादलों के बीच चमकती हुई बिजली तथा हरे- भरे जंगल के बीच खिले हुए ताजे लाल गुलाब के फूलों का बिम्ब परस्पर वलयित रूप में उभर आता है। शब्दों के चुनाव में भी कवि ने बड़ी ही सूझबूझ का परिचय दिया है। एक तरफ कवि नीले वस्त्रों के बीच से चमकते हुए श्रद्धा के गौर या चंपई वर्ण को प्रस्तुत करता है, वहीं श्याम बादलों के बीच से श्वेत बिजली का कौंधता हुआ बिम्ब उपस्थित होता है; साथ ही हरियाली के मध्य खिले हुए गुलाब के लाल फूलों का बिम्ब भी उभर आता है। इस प्रकार कवि ने एक

साथ ही तीन बिम्बों का संश्लेषण किया है, जिसे साहित्य में संश्लिष्ट बिम्ब कहा जाता है। प्रसाद जी के बिम्ब- लोक में ऐसे संश्लिष्ट बिम्बों की संख्या सीमित होते हुए भी पर्याप्त सघन एवं प्रभाव- संयुक्त है। वर्ण- ज्ञान की दृष्टि से भी इस पद का बड़ा ही महत्व है। कवि श्रद्धा के गौरवर्ण ( पीला ) को अधिक उभारने के लिए ' नीले ' वस्त्रों का प्रयोग करता है तथा इसकी समता के लिए कवि ने ' बादलों ( श्याम ) के बीच चमकती हुई बिजली ( पीत ) ' और ' वन ( हरा ) के बीच खिले हुए गुलाब के फूल ( लाल ) को उपमान के रूप में लिया है। इसमें नीले-पीले, श्याम- श्वेत तथा लाल- हरे रंग परस्पर विरोधी हैं जो वर्ण विज्ञान की दृष्टि से एक दूसरे को उभारने के लिए साथ प्रयुक्त होते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि कवि ने सर्जनात्मकता के साथ ही शब्दों के प्रयोग में काफी सतर्कता बरती है। गुलाब का फूल, चमकती हुई बिजली ये नायिका के लिए प्रयुक्त पुराने उपमान होते हुए भी प्रयोग में नवीनता लिए हुए है।

इसी प्रकार की एक अन्य पद- रचना; जिसमें भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग अत्यन्त विशिष्ट है।

' घिर रहे थे घुंघराले बाल

अंस अवलम्बित मुख के पास,

नील घन-शावक- से सुकुमार

सुधा भरने को विधु के पास ।"

प्रस्तुत पद में कवि ने श्रद्धा के घुंघराले बालों के सौन्दर्य का वर्णन किया है। कवि का कथन है कि श्रद्धा के घुंघराले काले बाल उसके कंधों तक मुख के चारों तरफ घिरे हुए थे या लटक रहे थे; जिन्हें देखकर ऐसा लगता था मानों वे बाल, किसी के बाल न होकर बादलों के सुकुमार बच्चे हैं, जो चन्द्रमा से अमृत का पान करने के लिए आतुरतापूर्वक घेरे हुए हों।

यहां पर घुंघराले काले बालों के लिए " नील- घन- शावक " का प्रयोग किया गया है। साहित्य- परम्परा में मेघ की श्यामता के लिए नील वर्ण का प्रयोग होता रहा है; अतः " घन " से पूर्व " नील " शब्द प्रयुक्त हुआ है। " शावक " शब्द का प्रयोग भी साभिप्राय हुआ है। इसमें जीवन- तत्व के साथ- साथ सम्भ्रता का भी तत्व है। " शावक " शब्द कहते ही एक उछलते, कुदकते हुए बच्चे का चित्र सामने आ जाता है जो कवि की परिकल्पना के अनुसार चन्द्रमा से अमृत-पान के लिए उसके चारों तरफ व्यग्र-सा मंडरा रहा है।

चूंकि कवि को पाठक के सामने चन्द्रमा से अमृत-पान की क्रिया का चित्र प्रस्तुत करना था जो किसी चेतन्य प्राणी द्वारा ही सम्भव है;

अत: कवि ने ` नील- घन- खण्ड ` न कहकर ` नील- घन- शावक `
का प्रयोग किया है; जो कि अत्यन्त कल्पनाशील है।

वैसे तो ` मुख ` के लिए ` चन्द्रमा ` का प्रयोग साहित्य-
जगत में आदिकाल से ही होता रहा है; किन्तु उपमेय या उपमान के
रूप में। छायावादी कवियों ने इस तरह के प्रयोग के लिए भाषा
को सर्जनात्मक रूप दिया; विशेषकर प्रसाद जी ने। एक ` शावक`
शब्द के प्रयोग से ही पूरे अर्थ में जीवन्तता आ गयी है। इस प्रकार
उपर्युक्त बिम्ब बड़ा ही सहज, कल्पनाशील एवं प्रयोग की नयी अर्थवत्ता
से संयुक्त है।

इसी प्रकार ` कामायनी ` के ही ` लज्जा ` सर्ग की ये
पंक्तियां सर्जनात्मकता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है:-

` कोमल किसलय के अंचल में
        नन्हीं कलिका ज्यों छिपती - सी,
गोधूली के धूमिल पट में,
        दीपक के स्वर में दिपती- सी।`

प्रस्तुत पद में एक बालिका के किशोरावस्था में प्रविष्ट होने
पर उसके उभरते हुए सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। कवि के कथन
का तात्पर्य यह है कि लज्जा कोमल कोपलों की ओट में एक नन्हीं कली

वैज्ञानिक तथ्यों से भी परिपूर्ण है-

" बिखरीं अलकें ज्यों तर्क जाल-

वह विश्व मुकुट - सा उज्ज्वलतम शशि खण्ड सदृश था स्पष्ट भाल

दो पद्म- पलाश चंषक - से दृग देते अनुराग विराग ढाल

गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान

वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान- ज्ञान

था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रस सार लिये

दूसरा विचारों के नभ में था मधुर अभय अवलंब दिये

त्रिवली थी त्रिगुण- तरंगमयी, आलोक- वसन लिपटा अराल

चरणों में थी गति भरी ताल। "

— इड़ा सर्ग

प्रस्तुत पद में प्रसाद जी ने बुद्धि की प्रतीक इड़ा का नख-शिख वर्णन एक ही पद में प्रस्तुत करके अपनी कवि कुशलता का परिचय दिया है। सर्वप्रथम कवि इड़ा की बिखरी हुई अलकों का वर्णन करते हुए कहता है मानो इड़ा की अलकें, केश- राशि न होकर तर्कों का जाल हैं, जो अपने विस्तार के कारण मस्तिष्क में समाहित नहीं हो पायीं, अतः अलकों के रूप में बाहर आकर बिखर गयी हैं। यहां पर कवि ने वैज्ञानिकता का सहारा लिया है। चूंकि तर्क- शक्ति मस्तिष्क में ही निहित होती है और अलकें भी सिर से ही निकल कर लटकी हुई हैं,

जिन्हें देखकर कवि ने इस प्रकार की कल्पना की है। ` जाल ` शब्द का प्रयोग भी साभिप्राय किया गया है। ` जाल ` का स्वाभाविक गुण है फंसाना। ` इड़ा ` के तर्कों के जाल ने मनु को भी फंसा ही लिया था अतः कामायनीकार ने इस शब्द का प्रयोग ही उचित समझा। पुनः कवि इड़ा के ललाट के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहता है कि इड़ा का उन्नत भाल विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम एवं चन्द्र- खण्ड के समान सुन्दर था। उसकी दोनों आंखें कमल और पलाश ( टेसू ) की प्यालों के समान हैं जिससे एक से अनुराग और दूसरे से विराग ढाले जाते हैं। तात्पर्य यह कि इड़ा को देखने वाला व्यक्ति एक साथ ही अनुरक्ति और विरक्ति दोनों प्रकार के भावों से अभिभूत हो उठता है अर्थात् एक तरफ तो देखने वाला व्यक्ति उसके सौन्दर्य- पाश में बंध-सा जाता है किन्तु दूसरी तरफ इड़ा के आंखों से झलकती हुई वैराग्य की ज्योति उससे दूर हटाती है।

इड़ा के मुख सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि वह एक ऐसी कली के समान है जिस पर भौंरे गुंजार कर रहे हों (पराग के कारण ) जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानों अभी मुख से गान फूट पड़ेगा। इड़ा के वक्षस्थल को देखकर कवि कल्पना करता है मानों वे वक्षस्थल न होकर संसार के समस्त ज्ञान एवं विज्ञान के अक्षय भण्डार हैं; अर्थात् एक में ज्ञान एवं दूसरे में विज्ञान की राशियां एकत्रित करके

रख दी गयी हों । यहां पर कवि ने ` वक्षस्थल ` जैसे श्रृंगारिक प्रतीक को ज्ञान और विज्ञान से परिपूर्ण दो कलश के रूप में प्रस्तुत कर भाषा एवम् संवेदना को सर्जनात्मक आयाम दिया है; जहां श्रृंगारिकता पृष्ठभूमि में चली जाती है ।

पुनः कवि इड़ा के हाथों का वर्णन करते हुए कहता है कि इड़ा अपने एक हाथ में कर्म का कलश लिये हुए है, जो पृथ्वीवासियों के लिए जीवन- रस से भरा हुआ है तथा दूसरे हाथ से विचारों के नभ को माधुर्य और निर्भयता का अवलम्बन दिये हुए है । तात्पर्य यह है कि इड़ा एक हाथ से तो संसार में रहने वाले मनुष्यों को कर्म का उपदेश देती है तथा दूसरे हाथ से प्रेम एवं निडरतापूर्वक विचारों को अभिव्यक्ति देने का सन्देश देती है ।

क्रमशः नीचे की ओर उतरता हुआ कवि त्रिवली के सौन्दर्य का वर्णन करता है । कवि कहता है कि इड़ा की त्रिवली ( नाभि के पास पड़ने वाले बल ) की तीनों तरंगें मानों तरंग न होकर तीनों गुणों--( सत्वगुण, रजगुण, तमगुण ) का समन्वय है अर्थात् उन लहरों को देखकर मनु किसी श्रृंगारिक भावना से अभिभूत नहीं होते, वरन् उन्हें तीनों गुणों का बोध होने लगता है । इस प्रकार कवि की कल्पना के अनुसार इड़ा का सम्पूर्ण शरीर आलोक ( प्रकाश ) के वस्त्र से लिपटा हुआ था । अर्थात् इड़ा के शरीर से मानों प्रकाश (तेज)

की किरणें फूट रही थीं। अन्ततः कवि इड़ा के चरणों के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कहता है कि इड़ा के चरणों की गति ताल-युक्त थी अर्थात् उसके कदम मानों ताल की लय पर उठते थे।

इस प्रकार कवि ने इड़ा के सौन्दर्य का वर्णन करने में नयी सर्जनात्मकता के साथ वैज्ञानिकता का भरपूर सहारा लिया है। नख- शिख वर्णन में जहां रीतिकालीन कवियों ने शृंगारिक शब्दावली का प्रयोग किया था; वहीं प्रसाद जी ने इड़ा के सौन्दर्य- वर्णन के लिए अश्लील शब्दावली द्वारा नयी अर्थवत्ता प्रस्तुत करते हुए अपनी कवित्व प्रतिभा का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है।

छायावादी कवियों में सर्वप्रथम प्रसाद जी ने भाषा के सन्दर्भ में सर्जनात्मक आयाम विकसित करने का प्रयास किया। इसके बाद महाप्राण निराला ने इस दिशा में बहुत ही महत्वपूर्ण काम किया है। निराला ने संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग करते हुए हिन्दी- भाषा को परिनिष्ठित ही नहीं किया, अपितु छन्दों के बन्धन को ठुकराकर छन्द- मुक्त रचना- प्रक्रिया का प्रारम्भ किया; छन्द मुक्ति के सन्दर्भ में निराला ने स्वयं लिखा है-

"------ मनुष्य की मुक्ति की तरह ही कविता की मुक्ति भी होती है। मनुष्य की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और

कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना है। --- मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, प्रत्युत उससे साहित्य में एक स्वाधीन चेतना फैलती है---। मुक्त छन्द तो वह है जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है। --- उसका समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम-साहित्य उसकी मुक्ति।"[१]

सर्जनात्मकता की दृष्टि से निराला जी के प्रयास सर्वाधिक गहन एवं सार्थक हैं। छन्दों का बन्धन अस्वीकार करने के बाद भी निराला की रचनाओं में रस-प्रवाह में कोई कमी नहीं हुई है क्योंकि उनकी कविता में लय का पूरा निर्वाह हुआ है। जगह-जगह बिम्बों का समुचित प्रयोग भी हुआ है। निराला की कविताएं गीतात्मक ही नहीं हैं, वरन् उन्होंने हिन्दी में गीतों की नयी परम्परा को जन्म दिया है। सन् १९२६ के बाद वह एक नयी शैली के गीत लिखने का प्रयास करते हैं। "गीतिका" की भूमिका में उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है- "हिन्दी गवैयों का सम पर आना मुझे ऐसा लगता था जैसे मजदूर लकड़ी का बोझ मुकाम पर लाकर धम्म से फेंककर निश्चिन्त हुआ।"[२]

---

१- परिमल की भूमिका, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, पृ०-

२- गीतिका की भूमिका, ,, पृ०-

इसके विपरीत उन्होंने स्वर- विस्तार के सौन्दर्य पर विशेष ध्यान रखा। इस प्रकार उन्होंने काव्य की प्रत्येक दिशा में सर्जनात्मक प्रयोग किया। यहां पर निराला के कुछ सर्जनात्मक प्रयोग उद्धृत हैं-

" भारति, जय विजय करे
कनक- शस्य- कमल धरे ।

लंका पदतल - शतदल,
गर्जितोर्मि सागर- जल
धोता शुचि चरण- युगल
स्तव कर बहु- अर्थ- भरे ।

तरु- तृण- वन- लता- वसन
अंचल में खचित सुमन,
गंगा ज्योतिर्जल- कण
धवल- धार हार गले ।

मुकुट शुभ्र हिम- तुषार
प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशाएं उदार,
शतमुख- शतरव- मुखरे ।

—भारती - वन्दना

प्रस्तुत गीत में निराला ने मां भारती की वन्दना की है, किन्तु उनके ` भारति ` सम्बोधन में मां भारती और भारतवर्ष दोनों के प्रतिबिम्ब समाहित हैं। इसमें कवि ने भारत के मानचित्र को एक ` मां ` का स्वरूप प्रदान किया है। कविता की प्रथम पंक्ति में ही कवि ` भारति ` सम्बोधन के साथ कहता है कि मां भारती ने अपने एक हाथ में जय तथा दूसरे हाथ में विजय धारण किया है। भारतवर्ष के सन्दर्भ में ` कनक- शस्य- कमल धरे ` उपयुक्त है। तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष स्वर्ण, शस्य और कमलों से परिपूर्ण है। भारतवर्ष के नीचे अवस्थित लंका को देखकर भारती के सन्दर्भ में ` शतदल ` की परिकल्पना की गयी है। चूंकि मां सरस्वती कमलासना हैं, अत: कवि ने लंका को मां भारती के चरणों के नीचे कमल रूप में रूपायित किया है। भारतवर्ष के दोनों किनारों से टकराती हुई एवं गर्जना- सी करती हुई समुद्र की अथाह जलराशि को देखकर कवि कल्पना करता है, मानों वे मां भारती के दोनों चरणों का प्रक्षालन करती हों एवं अनेक अर्थों से युक्त मंत्रों द्वारा उनका स्तवन कर रही हों।

` तरु- तृण- वन- लता वसन ` में कवि ने भारत मां के वानस्पतिक परिधान की हरीतिमा का अत्यन्त सघन एवं सशक्त बिम्ब प्रस्तुत किया है; जिसके आंचल में अनेक पुष्प-रत्न खचित हैं। ज्योतिर्मय

जल- कण से युक्त गंगा की धवलधारा को देखकर कवि कल्पना करता है, मानों भारत मां अपने गले में मोतियों का हार पहने हुए हैं। यहां पर `ज्योतिर्जल- कण में` हार `में पिरोये हुए मुक्ता के उज्ज्वल दानों की परिकल्पना की गयी है। अन्तिम पंक्ति की `मुकुट शुभ्र हिम तुषार` में हिमाच्छादित पर्वत शिखरों को मां भारती के शुभ्र मुकुट के रूप में व्यंजित किया गया है। सम्पूर्ण भारतीय आर्ष वाङ्मय में `ओऽम्` ध्वनि को आदि ध्वनि माना गया है। भारती के कण्ठ से उठी `ओऽम्` के स्वर का निनाद आज भी दसों दिशाओं में होता रहता है। इस कल्पना में भारती को आद्या शक्ति के रूप में कल्पित किया गया है। इस प्रकार भारती - वन्दना के साथ ही भारत मां का वर्णन एक नयी अर्थवत्ता के साथ प्रस्तुत करके कवि ने एक गहरी सर्जनात्मकता का परिचय दिया है।

`जुही की कली` जो सामान्य रूप से कवि की प्रथम कृति मानी जाती है, के माध्यम से हिन्दी कविता सम्भवत: पहली बार उन्मुक्तता का अनुभव करती है। इस कविता द्वारा छायावादी काव्यभाषा में जुड़ती हुई नई और सघन अर्थ छवियों का सशक्त साक्षात्कार भी होता है। निराला ने यहीं से छन्द मुक्त कविता का श्रीगणेश किया; अतएव यह रचना अपना ऐतिहासिक महत्व भी रखती है। छन्द मुक्तता के सम्बन्ध में निराला के विचार उनके अपने

ही शब्दों में द्रष्टव्य है-

" --- हिन्दी काव्य की मुक्ति के मुझे दो उपाय मालूम दिये, एक वर्णवृत्त में, दूसरा मात्रावृत्त में। 'जुही की कली' की वर्णवृत्त वाली ज़मीन है। इसमें अन्त्यानुप्रास नहीं। यह गायी नहीं जा सकती। इससे पढ़ने की कला व्यक्त होती है। इसके छन्द को मैं मुक्त छन्द कहता हूं। दूसरी मात्रावृत्त वाली रचनाएं 'परिमल' के दूसरे खण्ड में हैं। इनमें लड़ियां असमान हैं पर अन्त्यानुप्रास है। आधार मात्रिक होने के कारण ये गायी जा सकती हैं। पर संगीत अंग्रेज़ी ढंग का है। इस गति को मैं मुक्त गीत कहता हूं।"[१]

'जुही की कली' और मलय- पवन के स्वच्छन्द एवम् मांसल मिलन का अंकन कर कवि ने उन्मुक्त मानवीय प्रणय- व्यापार को स्वर दिया है। प्रेमांकन में इस तरह का वर्णन सर्जनात्मकता से परिपूर्ण है-

" विजन- वन- वल्लरी पर,
सोती थी सुहाग भरी —
स्नेह - स्वप्न- मग्न- अमल- कोमल- तनु तरुणी
जुही की कली,"

---

१- प्रबन्ध प्रतिमा : मेरे गीत और कला, पृ०- २२१

यहाँ पर `सुहाग भरी,` `स्नेह- स्वप्न- मग्न,` `अमल - कोमल - तनु तरुणी` जैसे प्रयोग इस बात के द्योतक हैं कि कवि ने ऊष्मामय मानवीय संवेदना की व्यंजना के लिए `जुही की कली` के चित्रण का सहारा लिया है।

आगे कवि ने मलयानिल का चित्रण मुक्त-छन्द का सशक्त प्रयोग करते हुए किया है—

`वासन्ती निशा थी;
विरह विधुर प्रिया संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।`

बातचीत के ढर्रे का प्रयोग— `जिसे कहते हैं मलयानिल`— भाषा- मुक्ति के प्रसंग में उल्लेखनीय है। इस कविता का सबसे केन्द्रीय तत्व उसकी भाषा की वेगवत्ता है।

तत्पश्चात् प्रिया से बिछुड़े हुए मलय के मन में बीते हुए दिनों की सुखद स्मृतियों का तूफान उठता है-

`आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कांता की कम्पित कमनीय गात,`

इन तीन तीव्र प्रखर पंक्तियों में संयोगात्मक उत्तेजना की स्मृति अत्यन्त जीवन्त बन पड़ी है। यहां पर लय का आकस्मिक परिवर्तन करके कवि ने संयोगावस्था की स्मृतिपरक संवेदना को अनुभव के धरातल पर विश्वसनीय बना दिया है। सुखद स्मृति के प्रतिक्रिया-स्वरूप मलयानिल की सक्रियता का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है-

" फिर क्या ? पवन
उपवन- सर- सरित गहन- गिरि- कानन
कुंज- लता पुंजों को पारकर
पहुंचा जहां उसने की केलि
कली - खिली - साथ।

" फिर क्या ? " का प्रयोग मलय द्वारा प्रिया के पास शीघ्रत: पहुंचने की प्रक्रिया पर बड़ा ही तीव्रगामी प्रभाव डालता है। मलय के उस आवेगमय व्यापार को बन्धन-युक्त छन्द में अभिव्यक्त कर पाना अत्यन्त दुष्कर होता; अत: कवि ने इसके लिए छन्द- विहीन शैली अपनायी। छन्द की बंधी हुई गति मानों इस स्वच्छन्दता के प्रखर वेग को बांधने में असमर्थ होती। भाषा, छन्द और संवेदना की परस्पर संश्लिष्ट प्रकृति के रहस्य की पहचान निराला को प्रारम्भ से ही थी।

प्राकृतिक व्यापार को प्रणय- व्यापार में पूर्णत: रूपान्तरित कर सकना छायावादी काव्यभाषा की विशेषता है-

" निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की,
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिए गोरे कपोल गोल;
चौंक पड़ी युवती,
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,"

यह सारी प्रक्रिया मानवीकरण की ही न होकर प्रकृति और जीवन का संश्लेषण है। `जुही की कली ` में मुक्त छन्द की योजना भाव-मुक्ति से सीधे जुड़ी हुई है, जिससे मलयानिल का स्वच्छन्द प्रणय-व्यापार सहज एवं सजीव बन पड़ा है। यद्यपि `जुही की कली ` और `मलयानिल ` प्रतीक के रूप में लिये गये हैं; किन्तु इनके द्वारा एक संश्लिष्ट बिम्ब की संरचना होती है। प्रणय और प्रकृति के अनुभव यहां एक- दूसरे में संश्लिष्ट हो गये हैं। `जुही की कली ` के सन्दर्भ में श्री दूधनाथ सिंह के विचार इस प्रकार हैं—

" 'जुही की कली ' या उस तरह की बहुत सारी कविताएं अपनी छन्द-मुक्ति के बावजूद काव्य-मुक्ति के उदाहरण स्वरूप नहीं रखी जा सकतीं। वे अपने सम्पूर्ण संस्कार में रीत्यात्मक, पारम्परिक कविताएं ही हैं और हजारों वर्ष की भारतीय कविता की आभिजात्यता का ही एक उदाहरण है।"[१]

निराला की ' सन्ध्या- सुन्दरी ' जैसी कविताओं ने छायावादी काव्यभाषा का स्वरूप निखारने में विशेष योगदान किया है। प्रकृति छायावादी कवियों का वर्ण्य- विषय रही है। विशेषत: उनके प्रारम्भिक रचनाकाल में। प्रकृति में भी सन्ध्या के प्रति इन कवियों की विशेष रूझान रही है। छायावादी कवि 'प्रसाद ' तथा ' निराला ' ने सन्ध्या को वर्ण्य- विषय बनाकर अनेक कविताओं की रचना की है; जिनमें ' झरना ' की 'विषाद ' एवं ' लहर ' की ' मधुर माधवी सन्ध्या में जब रागारुण रवि होता अस्त ' ( प्रसाद ) तथा ' सन्ध्या- सुन्दरी ' एवं 'अस्ताचल रवि ... ' ( निराला ) प्रमुख हैं। छायावादी काव्य से पूर्व भी खड़ीबोली कविता में सन्ध्या को काव्य- विषय बनाया गया है। 'हरिऔध ' के ' प्रिय प्रवास ' में सन्ध्या का चित्रण अनेक स्थल पर किया गया है। उदाहरणार्थ-

---

१- निराला : आत्महन्ता आस्था, दूधनाथ सिंह, पृ०- २१२

" दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी - कुल - वल्लभ की प्रभा ।"

—प्रिय- प्रवास

निराला ने "सन्ध्या- सुन्दरी" कविता में सान्ध्य-चित्रण का संवेदनात्मक रूप प्रस्तुत करके भाषा के स्तर पर संश्लिष्टता और सर्जनात्मकता का एक सर्वथा नवीन आयाम विकसित किया है-

" दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या- सुन्दरी परी - सी
धीरे - धीरे - धीरे ।"

— सन्ध्या- सुन्दरी

कवि आसमान से उतरती हुई सन्ध्या को एक परी के रूप में व्यंजित करता है। सायंकाल का समय है, बादलों से आच्छादित आसमान से धीरे- धीरे सन्ध्या का एक परी के समान पृथ्वी पर अवतरण होता है। कवि ने "धीरे - धीरे - धीरे" का प्रयोग करके अर्थ में गम्भीरता एवं एक क्रमिकता ला दिया है। यह कविता

पढ़ते ही मस्तिष्क में आसमान से नीचे उतरती हुई एक नायिका का बिम्ब उभर आता है जो कि एक बंधी हुई गति के साथ पृथ्वी पर उतर रही है।

यद्यपि 'सन्ध्या-सुन्दरी' की भाषिक संरचना छायावादी है, किन्तु यह किसी खास संवेदनागत नवीनता की कविता नहीं है। निराला की रचनाओं को संवेदना के स्तर पर दूधनाथ सिंह ने काफी सूक्ष्म दृष्टि से परखा है-

"--- भाव-संवेदना की उन्हीं कविताओं को मैंने काव्य-आभिजात्य से मुक्ति के प्रयास के उदाहरण रूप में अपने अध्ययन का विषय बनाया है, जो ऐतिहासिक पहचान के इस नये नुक्ते पर अपनी संवेदना के स्तर पर सबसे पहले मुक्त हैं-- चाहे वे छन्दानुशासन से मुक्त हों या न हों। इसीलिए मैंने कहा संवेदनागत मुक्ति के बावजूद भाषिक-संरचना, छन्द और विचारगत भिन्नता के कारण निराला की इन कविताओं में काफी वैविध्य है। अध्ययन और विश्लेषण की सुविधा के लिए इस वैविध्य को हम तीन धरातलों पर रेखांकित कर सकते हैं :

वे कविताएं, जो विषय-वस्तु, संवेदना और छन्दानुशासन से मुक्त हैं, लेकिन जिनकी भाषिक-संरचना में छायावादी शिल्प

और ऐश्वर्यवादी अभिजात शब्द- बन्ध बार- बार घुसपैठ करते हुए दिखाई देते हैं। सम्पूर्ण कविता की संरचना में यह द्वैत तथा शब्द- बन्ध की घुसपैठ संवेदना के धरातल पर भी आभिजात्य का हल्का- सा आभास कहीं - कहीं देती है। लेकिन यह आभास इतना क्षीण है कि आसानी से पकड़ में नहीं आता।"[१]

दूधनाथ सिंह ने 'सन्ध्या- सुन्दरी' को इसी श्रेणी की कविताओं के अन्तर्गत स्थान दिया है। छायावादी काव्य की भाषिक- संरचना का प्रौढ़तम स्वरूप कवि ने सन्ध्या के व्यक्तित्व का चित्रण प्रस्तुत करके किया है-

" तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास
किन्तु ज़रा गम्भीर,—नहीं है उनमें हास - विलास।
हंसता है तो केवल तारा एक
गुंथा हुआ उन घुंघराले काले- काले बालों से,
हृदय राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।"

सायंकालीन सूने वातावरण को कवि ने सन्ध्या- सुन्दरी के गम्भीर स्वभाव का रूप दिया है। इस शान्त निस्तब्धता में आकाश में अकेला एक तारा टिमटिमा रहा है, जिसे कवि ने सन्ध्या- सुन्दरी

---

१- निराला : आत्महन्ता आस्था, दूधनाथ सिंह, पृ०- २१२- २१३

के घुंघराली घनी अलकों में टंके हुए एक प्रफुल्लित फूल के रूप में व्यंजित किया है। इस प्रकार काल- विशेष को एक नायिका के रूपक में बांधने का कवि का प्रयास सफल एवं सर्जनात्मक है।

पुनः कवि सन्ध्या के अमूर्त व्यक्तित्व का निरूपण संश्लिष्ट बिम्ब के माध्यम से प्रस्तुत करता है-

"अलसता की - सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बांह,
छांह- सी अम्बर- पथ से चली।"

कवि ने सन्ध्या को ऐसी लता के रूप में व्यंजित किया है, जो आलस्य का मूर्त रूप हो एवं ऐसी कली के रूप में व्यंजित किया है जो कोमलता की मूर्ति हो। सन्ध्या की सहेली नीरवता के द्वारा, जिसके कंधों का सहारा लेती हुई वह छाया के समान आकाश- मार्ग से पृथ्वी पर उतरती है, कवि ने सन्ध्या के मौन को अभिव्यंजित किया है। 'सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बांह' के विशिष्ट प्रयोग द्वारा कवि ने सन्ध्या की संयुक्तता का बोध कराया है। प्रकृति- बिम्ब एवं मानवीय बिम्ब का अंकन करके कवि ने छायावादी काव्यभाषा का सर्जनात्मक आयाम विकसित किया है। बाद में कवि रूपकात्मकता से

अलग हटकर सान्ध्य-कालीन वातावरण का निर्माण करता है-

"नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग- राग आलाप,
नूपुरों में भी रुनझुन - रुनझुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द- सा "चुप, चुप, चुप"

है गूंज रहा सब कहीं"—कवि की उपर्युक्त पंक्तियों में सान्ध्यकाल के शान्त एवं गम्भीर वातावरण की झंकृति मिलती है। नीरवता की अमूर्त और सूक्ष्म स्थिति का अंकन "चुप, चुप, चुप" की गूंज से ध्वनित किया गया है। वीणा का थम जाना, अनुराग- राग आलाप का न होना और नूपुरों की "रुनझुन" ध्वनि का रुक जाना "सन्ध्या सुन्दरी" के शान्त एवं सापेक्ष व्यक्तित्व का द्योतक है। यदि कुछ शेष है तो- "सिर्फ एक अव्यक्त शब्द- सा," चुप, चुप, चुप "- जो सर्वत्र व्याप्त है। "चुप, चुप, चुप" का प्रयोग सान्ध्यकालीन निस्तब्धता को और गहराई प्रदान करता है। निराला की रचनाओं में भाषा का सर्जनात्मक विकास अपने प्रखर रूप में विद्यमान है। दूधनाथ सिंह ने लिखा है-

"---- संवेदनागत और विषय-वस्तु की मुक्तता के बावजूद इनकी पूरी भाषिक-संरचना छायावादी है। ---- इन कविताओं में

संवेदना, विषय और छन्दगत मुक्ति पूरी तरह विद्यमान है और सिर्फ भाषिक- स्तर पर उनमें पंक्तियों के बीच जगह- जगह अभिजात शब्द- बन्ध घुसपैठ करते हुए दिखायी देते हैं।

यहां शब्द- प्रयोग से लेकर उनकी ध्वनि, लयात्मकता और कुछ दूर तक कथन- भंगिमा--सभी कुछ में छायावादी अभिजात संस्कार उभर कर सामने आ जाता है। जहां कहीं भी संवेदनागत नवीनता के अनुकूल शब्द- बन्ध को ढालने की चेष्टा की गयी है, वहीं एकाएक पंक्तियों के बीच से भाषा का आभिजात्य एक खिड़की खोलकर झांकने लगता है।"[1] यहां कवि सान्ध्य-कालीन निस्तब्धता का विराट् चित्र प्रस्तुत करता है, जिसमें छायावादी काव्यभाषा का स्वरूप स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है-

" व्योम- मण्डल में- जगतीतल में--
सोती शान्त सरोवर पर उस अमल-कमलिनी -दल में--
सौन्दर्य-गर्विता सरिता के अति विस्तृत वक्ष:स्थल में--
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिमगिरि- अटल- अचल में--
उत्ताल- तरंगाघात- प्रलय-घन- गर्जन- जलधि प्रबल में--
क्षिति में- जल में- नभ में- अनिल- अनल में--
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा " चुप, चुप, चुप "
है गूंज रहा सब कहीं,-- "

---

१- निराला : आत्महन्ता आस्था, दूधनाथ सिंह, पृ०- २१५

नीरवता के इस प्रकृति-व्यापी अंकन में लय का प्रवाह बना हुआ है। सम्पूर्ण संसार में 'चुप, चुप, चुप' की अनुगूंज परिव्याप्त है। कवि कहता है कि व्योम मण्डल और पृथ्वी पर सर्वत्र निस्तब्धता छायी हुई है। यहां तक कि प्रशांत सरोवर के मध्य प्रमुदित कमलिनी भी नीरवता के प्रभाव से मुरझा गयी है ( क्योंकि सायंकाल होते ही कमलिनी संकुचित हो जाती है )। अपने प्रवाह-सौन्दर्य के गर्व में चूर नदियाँ एवं गम्भीर और अटल हिमगिरि की चोटियाँ पर भी 'चुप, चुप, चुप' की ध्वनि गूंज रही है। 'उत्ताल - तरंगाघात- प्रलय-घन- गर्जन' की दीर्घ और कठोर वर्ण-योजना स्तब्ध वातावरण का सशक्त चित्र निर्मित करती है। कवि क्षिति, जल, नभ, अनिल और अनल अर्थात् पूरे ब्रह्माण्ड को सिर्फ एक ही अव्यक्त ध्वनि 'चुप, चुप, चुप' से अभिभूत बताता है जो कवि द्वारा प्रतिष्ठापित विराट् चित्र को और गरिमामय बनाता है। ( क्योंकि पंच-तत्व को ही कवि ने सान्ध्यकालीन नीरवता से परिव्याप्त बताया है ( ) निस्तब्धता का यह सर्वव्यापी प्रभाव अर्थ के सूक्ष्म स्तर पर सर्वत्र एक ही तत्व की व्याप्ति को व्यंजित करता है। निराला ने स्वयं एक निबन्ध में कहा है-

" काव्य में साहित्य के हृदय को विशेष व्याप्त करने के लिए

विराट रूपों की प्रतिष्ठा करना अत्यन्त आवश्यक है।"[1]

तत्सम शब्दावली प्रधान इस रचना से निराला के पौरुष-दीप्त काव्य-व्यक्तित्व का बोध होता है। 'सन्ध्या-सुन्दरी' में प्रयुक्त कठोर शब्दयोजना के सन्दर्भ में नन्ददुलारे वाजपेयी के विचार इस प्रकार हैं-

प्रशान्त प्रकृति के चित्रण के सन्दर्भ में इस प्रकार की प्रचण्ड ध्वनिमयी शब्दावली का प्रयोग उचित है या नहीं, यह एक अलग प्रश्न है। परन्तु ऊपर उद्धृत कविता में विषादी स्वर का यह संधान अपूर्व सामर्थ्य के साथ किया गया है, इसमें सन्देह नहीं।"[2]

सर्जनात्मकता की दृष्टि से यह रचना एक प्रकारका प्रयोग है निराला का मुक्त छन्द सन्ध्या के विशिष्ट अनुभव को रूपाकार देने में और सहायक हुआ है। मात्र एक शब्द की गूंज-अनुगूंज ही इस विराट् चित्रण को प्रखर गतिशीलता व्याप्ति एवं भव्यता प्रदान करती है।

कोमल प्रकृति के चित्रांकन के लिए प्रयुक्त प्रचण्ड ध्वनिमयी यह शब्दावली असाधारण तो है ही; साथ ही अर्थ की व्यापकता

---

१- प्रबन्ध पद्म, पृ०- १७२

२- कवि निराला : नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ०- १०८

और प्रखरता को बनाए हुए है। इस प्रकार का प्रयोग करके मानो कवि ने इस परम्परित धारणा को चुनौती दी है कि कोमल प्रकृति के चित्रांकन में कोमल शब्दावली ही सक्षम हो सकती है।

अन्ततः कवि सन्ध्या से तादात्म्य का अनुभव करने लगता है-

" कवि का बढ़ जाता अनुराग,

विरहाकुल कमनीय कण्ठ से

आप निकल पड़ता एक विहाग।"

सन्ध्या का मौन आचरण कवि के कण्ठ से विहाग बनकर फूटता है। इस रूप में सन्ध्या एक जीवन्त अनुभव बन जाती है। यह अंतिम अंश, जहां कवि सन्ध्या में से अपना रचनात्मक उन्मोचन करता है; संवेदना, सर्जनात्मकता एवं आधुनिक भावबोध का सशक्त प्रमाण है।

इसी प्रकार कवि ने अनेक ऐसी संगीत- प्रधान रचनाएं की हैं, जो सर्जनात्मकता की दृष्टि से बेजोड़ हैं। पुनर्जागरण की भावना से प्रेरित होने के कारण संस्कृतिनिष्ठ शब्दावली में रचित ऐसी कविताओं की काव्यभाषा सांस्कृतिक परिवेश और सूक्ष्म संवेदना से ओतप्रोत है तथा इस प्रकार छायावादी काव्यभाषा की व्यंजना- क्षमता को जीवन्त अनुभव के रूप में प्रस्तुत करती है। संगीत- प्रधान रचनाओं द्वारा

निराला ने यह सिद्ध कर दिया है कि खड़ी बोली में भी काव्य गुणों को अक्षत रखते हुए संगीत शास्त्रानुमोदित गीतों की सृष्टि सम्भव है। तत्सम शब्द प्रयोग के सशक्त समर्थक निराला ने गीत, संगीत और काव्य को एक सार्थक सर्जनात्मक सम्बन्ध दिया है। निराला गीत- काव्य की रचना के लिए ब्रजभाषा से अलग खड़ी बोली के वैशिष्ट्य के समर्थक हैं जिसका स्पष्ट संकेत उन्होंने स्वयं किया है--

'मैं खड़ी बोली में जिस उच्चारण संगीत के भीतर से जीवन की प्रतिष्ठा का स्वप्न देखता आया हूं, वह ब्रजभाषा में नहीं।'[1]

इस सन्दर्भ में उनकी कुछ रचनाएं देखी जा सकती हैं--

'(प्रिय) यामिनी जागी' गीत, संगीतात्मक लय, मौलिक स्वर- विस्तार एवं काव्यभाषा की सर्जनात्मकता से परिपूर्ण है--

'(प्रिय) यामिनी जागी।
अलस पंकज- दृग अरुण मुख-
तरुण- अनुरागी।'

इसमें निराला ने सद्य: जाग्रता प्रेयसी का एक गतिशील चित्रांकन किया है। प्रिय के साथ नायिका ने देर रात तक जागरण किया है।

---

1- गीतिका की भूमिका, पृ0- 12

फलत: जागने के बाद भी उसके कमल- नयन अलसाये हुए हैं अर्थात्
रात्रि- जागरण के कारण उसके नेत्रों से खुमारी टपक रही है।
` (प्रिय) यामिनी जागी ` का शब्द प्रयोग मात्र छायावादी
लाक्षणिकता का द्योतक नहीं है; वरन् उससे रात्रि- जागरण का
सूक्ष्म अनुभव व्यक्त होता है। ` यामिनी ` अपने सूक्ष्म और अमूर्त
रूप के बावजूद रात्रि कालीन समस्त संयोग क्रियाओं को अभिव्यक्त
करने में पूर्णतया समर्थ हुई है। ` यामिनी ` शब्द प्रयोग की भी
अपनी एक सार्थकता है जो उसके अन्य पर्याय द्वारा सम्भव नहीं थी।
` यामिनी `- याम- प्रहर- प्रहर वाली - अर्थात् लम्बी रात। यह
प्रयोग संयोग सुख की दीर्घकालीनता को भी स्वर देता है। यद्यपि
प्रिय संयोग के बाद की खुमारी का अंकन बहु प्रयुक्त अप्रस्तुत विधान
पर अंकित है, किन्तु सुर और शब्द के अद्भुत संयोग को नकारा नहीं
जा सकता। जैसा कि दूधनाथ सिंह ने लिखा है-

" निराला के सम्पूर्ण अन्त:संगीत में सुर और शब्द का अद्भुत
संयोग है। उनकी भाषिक संरचना का मूलाधार यही है। उनके
गीतों के शब्द- बन्ध कहीं भी शब्दार्थ को प्रमाण मानकर निर्मित नहीं
हुए हैं। उनमें से फूटने वाला अर्थ, जिस प्रकार अक्सर हम चमत्कृत
होते हैं, दरअसल शब्दों की ध्वनि- लहरियों और उनमें निहित रंग-
वैविध्य से अधिक प्रकट होता है। अर्थ को स्वर का आधार देकर ही

निराला ने अपने गीतों की मात्रिक संरचना तैयार की है।"[1]

आगे की पंक्तियों में कवि ने शैय्या से तत्काल उठी हुई प्रेयसी के खुले बालों की अशेष शोभा का वर्णन लय की विशेष योजना के साथ किया है-

"खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ- ग्रीवा- बाहु- उर पर तर रहे
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे
ज्योति की तन्वी, तड़ित-
द्युति ने क्षमा माँगी।"

केश के बाद "अशेष" का शब्द प्रयोग केवल अलंकृति के लिए नहीं हुआ है; वरन् खुले हुए केश की शब्दातीत शोभा को इस प्रयोग में बांधने की प्रक्रिया है। नायिका के खुले हुए केश उसकी पीठ, गले, बाहुओं और हृदय पर फैले हुए हैं, जिसमें कवि को बादलों के बीच घिरे हुए दिनकर का आभास होता है। यहां "भर रहे" और "तर रहे" क्रमश: सौन्दर्य की सतत गतिमान प्रक्रिया और उसके उन्मुक्त फैलाव को द्योतित करते हैं। "ज्योति की तन्वी,--- क्षमा माँगी" में प्रेयसी को अपनी दीप्ति से आलोकित कर देने वाला भाव व्यंजित

---

१- निराला : आत्महन्ता आस्था, दूधनाथ सिंह, पृ०- ६६

होता है। इसमें `कामायनी` में वर्णित `इड़ा` के सौन्दर्यांकन में प्रयुक्त बिम्ब `वह नयन- महोत्सव की प्रतीक` जैसी ताज़गी है।

गीत के अन्तिम अंश में शरीर साहचर्य की स्वाभाविक परिणति का भाव व्यक्त किया गया है; किन्तु सर्जनात्मक स्तर पर-

` हेर उर पट, फेर मुख के बाल
लख चतुर्दिक चली मन्द मराल
गेह में प्रिय स्नेह की जयमाल
वासना की मुक्ति, मुक्ता
त्याग में तागी।`

इसमें प्रयुक्त `हेर` तथा `फेर` जैसे तद्भव शब्द-प्रयोग सर्जनात्मकता के साथ ही अपना एक अलग और सहज सौन्दर्य रखते हैं। `गेह में प्रिय स्नेह की जयमाल` का प्रयोग मांगलिक सन्दर्भ से जुड़ा होने के कारण विशिष्ट अर्थ रखता है, जिससे निराला की सर्जनात्मकता और शब्द- पारखी दृष्टि प्रकट होती है। `वासना की मुक्ति, मुक्ता`। त्याग में तागी` का काव्यात्मक संयोजन भी सर्वथा नवीन है एवं सर्जनात्मक स्तर पर भाषा का विकसित आयाम प्रस्तुत करती है।

निराला के अनेक गीत ध्वनि की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत गीत को लिया जा सकता है-

` प्रात तव द्वार पर,

आया, जननि, नैश अन्ध पथ पार कर।`

यहां निराशा को समाप्त कर कवि ने करुणापूर्ण निवेदन किया है। कवि ने `जननी` को सम्बोधित करते हुए कहा है कि हे मां! मैं रात्रि के अज्ञानान्धकार को पार करके प्रात होते ही तुम्हारे द्वार पर पहुंच आया हूं? इस अन्ध- मार्ग को पार करते समय जो भी बाधाएं आयीं, वे कवि के लिए कष्टदायी नहीं, वरन् सुखद ही प्रतीत हुईं, जिसका अंकन कवि ने आगे की पंक्तियों में किया है--

` लगे जो उपल पद, हुए उत्पल ज्ञात,

कण्टक चुभे, जागरण बने अवदात,

स्मृति में रहा पार करता हुआ रात

अवसन्न भी हूं प्रसन्न मैं प्राप्त वर --`

यहां पाठक को प्रत्येक शब्द के साथ धीरे- धीरे आगे बढ़ने की गति का अनुभव होता है। कवि का कथन है कि मार्ग में यद्यपि मेरे पैर पत्थरों से उलझे, किन्तु उन पत्थरों का स्पर्श कमल- पुष्प की भांति लगा। इसमें प्रयुक्त `उपल` और `उत्पल` दोनों शब्द ध्वनि की दृष्टि से एक जैसे लगते हैं, किन्तु कितनी विषम व्यंजना को आत्मस्थ किये हुए हैं। शब्दों की ध्वनि पर निराला का असाधारण

अधिकार था। निराला का मुक्त- छन्द--चाहे वार्णिक हो चाहे मात्रिक--इस तरह के अनुप्रासों से सुगठित रहता है। आगे की पंक्तियों में कवि ने ` अवसन्न ` तथा ` प्रसन्न ` का साथ ही प्रयोग किया है जो संरचना की दृष्टि से समान हैं या कि जिनका प्रयोग अनुप्रास-योजना की दृष्टि से किया गया है। वास्तव में निराला में लय और स्वर-साम्य की पकड़ इतनी गहरी है कि कविता का सारा प्रभाव ही कई गुना बढ़ जाता है। लगता यह है कि निराला अपनी पंक्तियों को बार- बार गुनगुनाते रहे हैं और उसी गुनगुनाहट में से वे लय एवम् स्वर - साम्य तथा नाद- प्रकृति की तलाश करते हैं। शब्द की सांगीतिक एवम् लयात्मक परिणतियों के निराला निष्णात् कवि हैं।

संगीत की दृष्टि से कवि का ` रूखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी ` गीत अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं सर्जनात्मक है। इसमें कवि ने रूखी डाल को एक रूठी हुई नायिका के रूपक में बांधा है; जिसने मानों यह हठ-सा किया है कि वह वासन्ती वस्त्र ही धारण करेगी।

` रूखी री यह डाल
वसन वासन्ती लेगी।
देख, खड़ी करती तप अपलक,
हीरक- सी समीर- माला जप,

शैलसुता अपर्ण- अशना

पल्लव- वसना बनेगी --

वसन वासन्ती लेगी ।"

पूरी कविता में कवि ने प्रकृति के माध्यम से शैलसुता पार्वती का बिम्ब प्रस्तुत किया है। कवि ने पतझड़ के समय की पेड़ की एक पत्रविहीन डाली को देखकर ऐसी कल्पना की; मानो यह एक नायिका है, जो वासन्ती वस्त्र पहनने के लिए रूठी हुई है। यह रूठी हुई डाल निर्निमेष दृष्टि से मानों तपस्या - सी कर रही है।

चूंकि वह डाल पत्रविहीन है; जिनका प्रयोग पलकों को उठाने-गिराने के लिए किया जाता; अत: ` अपलक ` शब्द का प्रयोग अत्यन्त सटीक बन पड़ा है ।

आगे कवि ने कल्पना की है कि यह डाल मां पार्वती की तरह अपर्ण- अशना तपस्विनी की तरह है-- पार्वती ने भगवान शंकर की प्राप्ति के लिए मात्र पत्तों पर निर्वाह करते हुए तपस्या की थी --जो पल्लवों ( नयी डाल कोपलें ) का ही वस्त्र धारण करेंगी । तपस्या में जप करने के लिए माला की आवश्यकता होती है, जिसके लिए कवि ने समीर- माला का प्रयोग किया है। यहां पर ` जप `, ` तप," ` अपर्ण= अशना," ` पल्लव- वसना ` का प्रयोग करके कवि ने कविता की आन्तरिक अर्थ- व्यंजना पर विशेष ध्यान रखा है। इस प्रकार

के प्रयोग छन्द- मुक्त कविता में प्रवाह एवं लय की गति बनाए रखने में सहायक होते हैं।

आगे की पंक्तियों में कवि ने एक और कल्पना की है जो सर्जनात्मक दृष्टि से प्रभावशाली है-

हार गले पहना फूलों का,
ऋतुपति सकल सुकृत कूलों का
स्नेह सरस भर देगा उर - सर,
स्मर हर को वरेगी —
वसन वासन्ती लेगी।*

वसन्त ऋतु के आगमन पर सभी पेड़ - पौधे फूलों से अलंकृत हो उठते हैं, अतः यह डाली भी नयी - नयी कोंपलों और फूलों से लद जायेगी; इस भाव की व्यंजना के लिए कवि ने कुछ इस प्रकार की कल्पना की है कि ऋतुपति वसन्त भी इस तपस्या-लीन नायिका के गले में फूलों का हार पहनायेगा तथा उसके हृदय- सरोवर को स्नेह-रस से सराबोर कर देगा और तब यह सभी - सुंदरी पार्वती भगवान शिव का वरण करेगी।

आगे की पंक्तियों में निराला ने रहस्यात्मक और दार्शनिक बिम्ब के सहारे शिवत्व की अभिव्यक्ति दी है, जो सर्जनात्मक दृष्टि

से अत्यन्त महत्वपूर्ण है-

" मधुव्रत में रत वधू मधुर फल
देगी जग को स्वाद- तोष- दल,
गरलामृत शिव आशुतोष- बल
विश्व सकल नेगी —
वसन वासन्ती लेगी ।"

यहां कवि ने पार्वती के मातृत्व का बोध कराया है। इस प्रकार पार्वती की तपस्या से लेकर उसके पुत्रवती होने तक का सम्पूर्ण विकास एक इसी डाल के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है, जिससे काव्यभाषा का सर्जनात्मक आयाम विकसित होता है। प्रणय की भारतीय परिकल्पना, जिसमें त्याग और तपस्या की विशेष प्रतिष्ठा है, पार्वती के रूपक में अत्यन्त सटीक ढंग से उद्घाटित की गयी है।

निराला ने अपनी काव्य-रचनाओं में संगीत के लय और ताल का विशेष ध्यान रखा है। अनेक संगीत रचनाएं ऐसी हैं जिनका शब्द एक लय के साथ आगे बढ़ता है। सर्जनात्मकता की दृष्टि से इस प्रकार के गीत अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उनका " स्मरण करते " गीत इसी प्रकार का एक सफलतम प्रयोग है-

" प्राण- धन को स्मरण करते

नयन झरते - नयन झरते ।

स्नेह ओत प्रोत,

सिन्धु दूर, शशिप्रभा- दृग

अश्रु- ज्योत्स्ना- प्रोत ।

मेघमाला सजल- नयना

सुहृद उपवन पर उतरते ।"

यहां निराला ने एक वियोगिनी नायिका का चित्रण किया है जो समुद्र पार गये हुए अपने प्रियतम की याद में आंसू बहा रही है। 'नयन झरते - नयन झरते ' पढ़ते ही पाठक के समक्ष नेत्रों से झर-झर कर गिरते हुए आंसुओं का चित्र अनायास उभर आता है। 'सिन्धु-दूर ' प्रयोग अपने आपमें कितना व्यंजनात्मक है। प्रिय की सागर पार की स्थिति को कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है, मानो उसकी दूरी की माप ' सिन्धु ' के अपरिमेय विस्तार से कर रहा हो।

आगे ' शशिप्रभा- दृग ' तथा ' अश्रु- ज्योत्स्ना- प्रोत ' में भी उसी अर्थगर्भी कल्पना का प्रयोग हुआ है, विशेषकर जो छवियां इन प्रयोगों द्वारा निर्मित हुई हैं, वे अत्यन्त प्रभावशाली हैं। छायावादी काव्यभाषा की एक प्रमुख विशेषता संवेदना की अभिव्यक्ति है। किसी

कवि की संवेदना की पहचान उसके तत्सम - तद्भव शब्द प्रयोगों से नहीं की जा सकती, जब तक कि उन शब्दों से कवि की संसक्ति, उसकी जन - साधारण के प्रति जागरूकता न अभिव्यंजित होती हो। 'तोड़ती - पत्थर' कविता कवि की यथार्थ के प्रति जागरूकता की ही परिचायक है। इस कविता में मानवीय दैन्य का ऐसा सहज और निश्छल स्पन्दन है जो अपना सानी नहीं रखता। इस कविता की मूल विशेषता उसमें निहित विपन्नता और सम्पन्नता का विपरीत भाव है, जिसे मार्मिक संरचना रूपायित करती है। वैषम्य की भावना प्रारम्भिक पंक्तियों से ही व्यंजित हो रही है-

> 'नहीं छायादार
>
> पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
>
> श्याम तन, भर बंधा यौवन,
>
> नत- नयन, प्रिय- कर्म- रत मन,
>
> गुरु हथौड़ा हाथ,
>
> करती बार- बार प्रहार-
>
> सामने तरु- मालिका अट्टालिका, प्राकार।'

यहाँ कवि ने पत्थर तोड़ती हुई एक मजदूरिनी का चित्रांकन किया है, जो पेड़ ( छायादार नहीं है ) के नीचे बैठी हुई स्वीकार

भाव से पत्थर तोड़ रही है। यहाँ पर ` नहीं ` शब्द का प्रयोग इस निषेध भाव को बल देता है कि पेड़ छायादार नहीं हैं, किन्तु उस मजदूरिनी को तो उसी के नीचे बैठना है। ` स्वीकार ` में एक विवश व्यक्ति की अपनी नियति से मूक समझौते की भावना व्यंजित होती है। यह ` स्वीकार ` अर्थ के प्राथमिक स्तर पर मजदूरिनी की असहाय स्थिति का द्योतक है। आगे की दो पंक्तियों में-द्रष्टव्य है-

` श्याम तन, भर बंधा यौवन,

नत- नयन, प्रिय- कर्म- रत मन `

जिसके आधार पर कवि की दृष्टि रोमांटिकता का आरोप लगाया जाता है, किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण के बाद यह प्रयोग कविता में अर्थ-सघनता की सृष्टि करता ही प्रतीत होता है। ` भर बंधा यौवन ` का प्रयोग करके कवि ने उसके व्यक्तित्व में एक शालीनता की अभिव्यक्ति दी है जिसमें रोमांटिकता के लिए कोई स्थान नहीं ` भर- बंधा ` प्रयोग बड़ा ही सारगर्भित है। ` भर ` में भरपूर या पूर्ण यौवन की व्यंजना है; वहीं ` बंधा ` में संयमित होने का भाव निहित है मानो जल से परिपूर्ण नदी हो, परन्तु तटबन्धों को तोड़कर बहती न हो। इसका प्रयोग सोद्देश्य भी है-- ` भर बंधा यौवन ` अपनी सारी कोमलता के द्वारा पत्थर तोड़ने जैसा कठोर कार्य करती हुई नारी की संघर्षरत

दिनचर्या को और गहराई मिलती है। दूधनाथ सिंह जी ने इसमें काव्यात्मक आभिजात्य का दर्शन किया है-

" कोई न छायादार पेड़—के बाद " श्याम तन, भर बंधा यौवन, नत- नयन, प्रिय- कर्म- रत मन " यह पूरा बंध छायावादी शब्द- संयोजन की देन है। इससे पत्थर तोड़ने वाली के एक अभिजात से लगने वाले सौन्दर्य की सृष्टि होती है, उसका काला- कलूटा रंग और पत्थर तोड़ती हुई मुद्रा अधिक प्रकट नहीं होती।"[१]

कवि का उद्देश्य सम्भवत: मजदूरिनी के संघर्षशील और बेबस स्थिति का चित्रण करना था न कि उसके रंग - रूप का लेखा - जोखा प्रस्तुत करना; क्योंकि कवि की संवेदना " श्याम तन " भर बंधा यौवन " से बंधती नहीं है, वरन् उसकी उपेक्षा करती हुई " नत- नयन, प्रिय- कर्म- रत मन " का दृश्य उपस्थित करती है। भाषिक संरचना का यह स्वरूप शब्दों की विभिन्न प्रकृति निराला की यथार्थग्राही दृष्टि की परिचायक है। " सामने तरु-मालिका अट्टालिका प्राकार " का आलोचकों ने प्रतीकात्मक रूप ग्रहण किया है मानो वह श्यामा युवती सामने अवस्थित अट्टालिका पर ही प्रहार कर रही हो। यह व्यवस्था

---

१- कुकुरमुत्ता : काव्य- आभिजात्य से मुक्ति, पृ०- १५

तर्कसंगत प्रतीत होती है, क्योंकि स्पष्टत: यह प्रहार चुनौतीपूर्ण रहा होगा। स्वयं निराला ने जानकीवल्लभ शास्त्री को लिखे गये एक पत्र में इसका उल्लेख किया है-

यहां सीधा वर्णन होने पर भी हथौड़े की चोट पत्थर पर पड़ने पर भी, देखिये, किस तरह अट्टालिका पर पड़ती है? लेखक के वर्णन- प्रकार के कारण व निर्देश से।"[1] वातावरण की भीषणता अपने पूरे वेग के साथ उस मजदूर स्त्री के सामने एक चुनौती बनकर खड़ी है, किन्तु वह प्राय: उसका तिरस्कार करती हुई- सी अपने कार्य में तल्लीन है-

" चढ़ रही थी धूप;
गर्मियों के दिन,
दिवा का तमतमाता रूप,
उठी झुलसती हुई लू,
रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगी छा गई;
प्राय: हुई दुपहर-
वह तोड़ती पत्थर।"

---

१- " साहित्य " पत्र से उद्धृत ( वर्ष १, अंक ३, अक्टूबर १६५० )।

पूरे वाक्य की परिसमाप्ति ' वह तोड़ती पत्थर ' में होती है, जो कवि की सर्जनात्मकता का परिचायक है। इस प्रकार की संरचना कवि की सहज संवेदना को व्यंजित करती है। यद्यपि इस पूरे बंध में वातावरण का भीषण प्रकोप व्याप्त है यानी यथार्थ का तीव्रतम आवेग भी ' वह तोड़ती पत्थर ' के सामने हल्का पड़ जाता है।

अन्तिम बंध में चित्र की पूर्ण परिणति है; साथ ही ' मैं तोड़ती पत्थर ' का प्रयोग करके कवि पाठक को सम्पूर्ण स्थिति के पुनरावलोकन के लिए बाध्य कर देता है-

' देखते देखा, मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्न तार;
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से,
जो मार खा रोई नहीं;
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक क्षण के बाद वह काँपी सुघर,
—— —— ——
मैं तोड़ती पत्थर।'

लगते हैं जैसा कवि ने पहले कभी नहीं सुना हो। पूरी कविता अपनी गठी हुई संरचना और चुभते हुए प्रभाव में बेजोड़ है। संवेदना और शिल्प का अद्भुत सामन्जस्य इस कविता में हुआ है।

पूरे बंध में मौन - स्वीकार के साथ चलती हुई वह मजदूर स्त्री अन्त में ' मैं तोड़ती पत्थर ' बुदबुदाती है, मानो यही उसकी नियति है। सारी विषमताओं, कटुताओं के बावजूद उसकी यह एकांतिक यात्रा निरन्तर गतिशील है; एक समर्पण, तल्लीनता और विवशता के भाव से। इस प्रकार की रचना कवि की सर्जनात्मकता को द्योतित करती है। ' मैं तोड़ती पत्थर ' के सन्दर्भ में श्री दूधनाथ सिंह जी का विचार इस प्रकार है-

' कवि शायद इस सहज स्वीकार से यह भी संकेतित करना चाहता है कि तुम जो मेरे श्याम तन और बंधे हुए यौवन में अपरूप सौन्दर्य और अद्वितीय संगीत को देख- सुन रहे हो, इसकी गुंजाइश यहां नहीं है। यह तुम्हारी कपोल- कल्पना है। मेरी नियति तो इस लू भरी दोपहरी में पत्थर तोड़ना भर है। इस तरह इन कविताओं की मार्मिक- संरचना में जो अभिजात शब्दावली की पृष्ठभूमि दिखायी पड़ती है या इनमें सहने की जो उच्चाशयता और गरिमा अभिव्यक्त हुई है, वह कविता की मुक्ति के आयाम को थोड़ा क्षीण

भले करती हो, एक दूसरे अर्थ में शायद कविता के अर्थ और महत्व को अधिक सघन बनाती है।"[1] इस कविता में एक साथ तत्सम एवं तद्भव शब्द प्रयोग समान रूप से कवि की संवेदना को वहन करते हैं।

निराला ने खड़ीबोली पर आधारित काव्यभाषा में लय और संवेदना का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया है। निश्चय ही काव्यभाषा का सर्जनात्मक स्वरूप इस प्रकार के प्रयास से निखर कर सामने आया है। मुक्त छन्द की रचना में लय पर सधा हुआ अधिकार निराला की महत्वपूर्ण विशेषता है। "स्नेह-निर्झर बह गया है" जैसी रचना में कवि ने अन्तर्मन की थकावट और विषाद की अभिव्यक्ति लय के एक साथ अन्दाज में प्रस्तुत किया है। लयधर्मी कवि निराला ने विराम की सुकुमार और सतर्क विन्यस्ति द्वारा काव्यभाषा को एक नयी दिशा प्रदान की है-

" स्नेह निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है- " अब यहां पिक या शिखी

---

१- निराला : आत्महन्ता आस्था - काव्य आभिजात्य से मुक्ति का प्रयास, पृ०- २२१

नहीं आते, पंक्ति में वह हूं लिखी

नहीं जिसका अर्थ-

जीवन दह गया है।"

प्रस्तुत काव्यांश में कवि ने अपने जीवन की उदासी और क्षीणता की गहरी व्यंजनाएं विकसित की है। यहां पर कवि ने सूखी हुई रेत को अपने शरीर के प्रतीक के रूप में व्यक्त किया है, जिसका सब कुछ समाप्त हो चुका है। आगे की पंक्तियोंमें निराला ने अपनी वृद्धावस्था की जर्जर हुई शरीर के लिए आम की सूखी डाली का बिम्ब लिया है, जिसे पक्षी भी अपना बसेरा नहीं बनातीं। (पक्षियां हरे-भरे वृक्षों को ही अपना निवास स्थान बनाती हैं।) निराश कवि अपने जीवन की तुलना अर्थविहीन पंक्तियों से करता है, जो लिपिबद्ध तो है किन्तु उसकी कोई सार्थकता नहीं। अन्ततः कवि "जीवन दह गया है" कहकर अपना सारा विषाद, अपनी सारी अन्तर्कथा उंड़ेल देता है।

यहां पर "नहीं आते" तथा "पंक्ति में वह हूं लिखी" के बीच का अन्तराल काव्यात्मक सार्थकता से परिपूर्ण है। आम की सूखी हुई डाल के माध्यम से कवि ने अपनी अनुपयोगिता, शोभाहीनता एवं निरुद्देश्यता के एहसास को बड़ी ही मार्मिकता के साथ उजागर

किया है, जो कवि की सर्जनात्मकता का द्योतक है। इस प्रकार के सूक्ष्म एवं सुकुमार कलात्मक संकेतों को उनकी पूरी अर्थवत्ता के साथ व्यंजित करना निराला जैसे कवि के लिए ही सम्भव था। पंक्तियों के मध्य अंकित विराम चिह्न उनके सहज अर्थ को और भी स्पष्टता एवं गहराई प्रदान करते हैं।

इस कविता के अन्तिम चरण तक आते- आते एक सघन विषाद और नैराश्य का एहसास अपने तीव्रतम रूप में व्यंजित होता है जिसमें वर्तमान की रिक्तता अतीत की सम्पन्नता की स्मृति के सन्दर्भ में और भी घनी हो उठती है-

" अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा
श्याम तृण पर बैठने को निरुपमा "

इन पंक्तियों में एक सम्पन्न अतीत, एक विपन्न वर्तमान को कितनी गहरी चोट पहुंचाता है। इसी सन्दर्भ में आगे के अंधकार को लक्षित किया जा सकता है-

" बह रही है हृदय पर केवल अमा "

अमावस्या के निविड अन्धकार की धारा हृदय- साम्राज्य को अपने प्रवाह में पूरी तौर पर आच्छन्न किये हुए है। अमा- निशा का हृदय में बहते हुए दिखाना एक अत्यन्त नया और सर्जनात्मक प्रयोग है;

और इस पूरे सन्दर्भ की चरम अभिव्यक्ति होती है अन्तिम पंक्ति में-

" मैं अलक्षित हूं, यही

कवि कह गया है।"

इसी प्रकार की मनःस्थिति में रचित उनका एक अन्य गीत "मैं अकेला" प्रस्तुत है, जो अपनी सर्जनात्मकता और सरल शब्द-प्रयोग में बेजोड़ है-

" मैं अकेला;

देखता हूं, आ रही

मेरे दिवस की सान्ध्य-बेला।

पके आधे बाल मेरे

हुए निष्प्रभ गाल मेरे,

चाल मेरी मंद होती आ रही,

हट रहा मेला।

जानता हूं, नदी-झरने,

जो मुझे थे पार करने,

कर चुका हूं, हंस रहा यह देख

कोई नहीं भेला।"

अत्यन्त निराश हुआ कवि अपने अकेलेपन के एहसास से घिरा हुआ है; जिसके फलस्वरूप इस प्रकार की मार्मिक रचनाएं सामने आयी हैं। कवि अपनी वृद्धावस्था को सन्निकट देखकर निराशा से भर उठता है। वृद्धावस्था के लक्षण पके हुए बाल, आभाहीन मुख- मण्डल तथा गात में आयी हुई शिथिलता कवि को अपने जीवन की सान्ध्य- वेला का एहसास कराती हैं। "छूट रहा मेला" द्वारा कवि के उत्सव-शून्य, वृद्ध जीवन को अभिव्यक्ति मिलती है। आगे की पंक्तियों में कवि थोड़ी स्थिर मनःस्थिति से गुजरता है, उसके अन्दर कुछ आसक्ति का बोध जागृत होता है; तभी फिर कवि कहता है कि मुझे जो कुछ भी करना था, नदी - झरने जो पार करने थे; वह सब मैं सम्पन्न कर चुका हूं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कवि के मन का अवसाद कुछ छंटा हुआ है। "खेल रहा यह देख, कोई नहीं मेला" के प्रयोग द्वारा कवि की आत्म- निर्भरता, उसका रचनात्मक व्यक्तित्व उजागर होता है जो "छूट रहा मेला" के विषाद को पीछे छोड़ देता है। विषाद और उपलब्धि की ऐसी द्वन्द्व- अवस्थिति की जटिलता को कवि ने छन्द और सरल शब्दावली द्वारा एक ही गीत में अनुस्यूत कर दिया है। इस प्रकार के प्रयोग भाषा को सर्जनात्मकता प्रदान करते हैं।

सर्जनात्मकता की दृष्टि से कवि की अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना

` सरोज - स्मृति ` उनकी एकमात्र पुत्री सरोज की असामयिक मृत्यु से उत्पन्न गहरे विषाद की एक मार्मिक अभिव्यक्ति है। कवि ने अपनी तटस्थ संवेदना और अपूर्व माषिक संरचना द्वारा इसे एक स्पृहणीय रचना का रूप प्रदान किया है। निराला के संभवत: इसी इसी व्यक्तित्व की प्रशंसा में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने जो लिखा है, वह ` सरोज- स्मृति ` के सन्दर्भ में उपयुक्त जान पड़ता है--

" कविताओं के भीतर से जितना प्रसन्न अथ च अस्खलित व्यक्तित्व निराला जी का है, उतना न प्रसाद जी का है न पंत जी का। यह निराला जी की समुन्नत काव्य- साधना का प्रमाण है।"[1]

कविता का प्रारम्भ ही सरोज की मृत्यु के चित्रण से होता है जिसे कवि ने शोक की आवेगमयी तीव्रता से परे दिव्य रूप प्रदान किया है--

" ऊनविंश पर जो प्रथम चरण
तेरा वह जीवन - सिंधु - तरण;
तनये, ली कर दृक्पात तरुण
जनक से जन्म की विदा अरुण।

---

१- कवि निराला- श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ०- २९

गीते मेरी, तज रूप - नाम

वर लिया अमर शाश्वत विराम

पूरे कर शुचितर सपर्याय

जीवन के अष्टादशाध्याय

चढ़ मृत्यु- तरणि पर तूर्ण- चरण

कह- " पितः, पूर्ण- आलोक वरण

करती हूँ मैं, यह नहीं मरण;

" सरोज " का ज्योतिः शरण - तरण । "

यहां पर प्रौढ़ शिल्पकार निराला की अपनी अठारह वर्षीया युवा पुत्री सरोज की मृत्यु पर लिखी गयी रचना में उनकी मार्मिक संवेदनाएं काव्य के रूप में अभिव्यक्त हुई हैं । " ऊनविंश पर जो प्रथम चरण " अपनी अतीत कोमलता के साथ अभिव्यंजित हुआ है । सरोज के अठारह वर्षीय जीवन को कवि ने " गीता " के " अष्टादशाध्याय " के रूप में देखा है, इसीलिए उन्होंने " गीते मेरी " कहकर सम्बोधित किया है । " गीते " सम्बोधन से एक तरफ सरोज के अन्तर्गत " गीता " की पवित्रता का बोध होता है, दूसरी तरफ यह व्यक्तिगत सन्दर्भ सांस्कृतिकता से जुड़ जाता है । आगे की पंक्तियों में कवि अपनी पुत्री की मृत्यु को अलौकिक स्वरूप प्रदान करता है—

` यह नहीं मरण; `सरोज ` का ज्योति: शरण- वरण । `

इस प्रकार की सर्जनात्मकता कवि की दार्शनिक दृष्टि की पुष्टि करती है। पुत्री के प्रयाण पर अत्यन्त सूक्ष्म और मार्मिक कल्पना द्वारा कवि ने अपनी निरीहता एवं दैन्य को और गहराई प्रदान की है—

` जीवित - कविते, शत - शर - जर्जर
छोड़कर पिता को पृथ्वी पर
तू गई स्वर्ग, क्या यह विचार-
जब पिता करेंगे मार्ग पार
यह, अक्षम अति, तब मैं सक्षम
तारूँगी कर गह दुस्तर तम ?— `

` सरोज ` के लिए प्रयुक्त ` जीवित- कविते ` का सम्बोधन अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है तथा यह प्रयोग प्रस्तुत कविता को ऊर्जस्विता प्रदान करने में और सहायक हुआ है। ` शत - शर- जर्जर ` का प्रयोग कवि के व्यत - विक्षत व्यक्तित्व का द्योतक है। आगे की पंक्तियों में प्रयुक्त ` अक्षम ` शब्द निराला की जीवन- स्थिति तथा उनके उत्तरदायित्व- निर्वाह की असमर्थता को व्यंजित करता है। सरोज को ` सक्षम ` बनाकर कवि ने अपनी अक्षमता को और गहराई दे दी है।

'सरोज - स्मृति' कविता हिन्दी - काव्य की एक सर्जनात्मक उपलब्धि तो है ही, कवि द्वारा अपनी पुत्री की युवावस्था का चित्रण उसकी सर्जनात्मकता को और उत्कृष्ट बनाता है। इस प्रकार का चित्रण कवि का अप्रतिम साहस दर्शाता है। कवि की संयमित दृष्टि ने सरोज के यौवन का सुन्दर चित्रण करके वात्सल्य को अत्यन्त उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। यौवनागम की मालकौश राग से उपमा देकर कविने पवित्रता की रक्षा की है; क्योंकि इस राग का स्वरूप उदात्त माना गया है-

"धीरे - धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार, कुंज - तारुण्य सुघर
आई, लावण्य- भार थर - थर
कांपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकौश नव वीणा पर,"

धीरे - धीरे परिवर्धमान यौवन का अंकन करने के लिए सुकुमारता की अपेक्षा थी; साथ ही पुत्री का पिता होने के नाते कवि को संयमित दृष्टि भी रखनी थी; इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए कवि ने अपनी समर्थ भाषा के बल पर एक अप्रतिम बिम्ब

प्रस्तुत किया— नव- वीणा पर गाया जाने वाला मालकौश का बिम्ब। वीणा के साथ कवि ने ` नव ` विशेषण का प्रयोग किया है जो सरोज के प्रत्यग्र यौवन को अभिव्यंजित करता है। नव वीणा पर गाये जाने वाले मालकौश राग के बिम्ब- प्रयोग से कवि के अपेक्षित दोनों मन्तव्य पूर्ण होते हैं। एक तरफ कवि युवावस्था की सुकुमारता को पवित्रता ( पुत्री के सन्दर्भ में प्रयुक्त होने के कारण ) के साथ चित्रित करता है, दूसरी तरफ युवावस्था की कोमलता पर थिरकते हुए सौन्दर्य का गुण भी अज्ञात रूप से अभिव्यंजित होता है। ` पवित्रता ` इस अर्थ में कि मालकौश राग गम्भीर भावों का एक उदात्त राग है, जिसमें कोमल स्वर प्रयुक्त होते हैं। सरोज के लावण्य का उपमान यह राग युवावस्था की संकोच मिश्रित गम्भीरता एवं स्वर की मृदुता को अभिव्यक्ति देता है।

कवि इसी एक बिम्ब से सन्तुष्ट नहीं होता है अतः सरोज के सौन्दर्य को नैश- स्वप्न के बिम्ब में ढालते हुए एक स्वप्नात्मक आयाम विकसित करता है-

` नैश - स्वप्न ज्यों तू मन्द- मन्द
फूटी ऊषा जागरण - छन्द,
कांपी भर निज आलोक- भार

कांपा वन, कांपा दिक् - प्रसार ।
परिचय- परिचय पर खिला सकल-
नभ, पृथ्वी , द्रुम, कलि, किसलय- दल ।"

यहां पर कवि ने सरोज के यौवनागम को नैश- स्वप्न के रूप में चित्रित किया है जो प्रात:काल जागरण के छन्द में परिवर्तित हो जाता है । तात्पर्य यह कि जिस प्रकार प्रात:कालीन जागरण का गीत समूची सृष्टि से सम्पृक्त होता है, उसी प्रकार सरोज का सौन्दर्य भी समूची सृष्टि से सम्पृक्त है । " कांपी भर निज आलोक भार ----- " द्वारा कवि ने पुत्री सरोज का सृष्टि-व्यापी सौन्दर्य अंकित किया है, जो एक उदात्त प्रयोग है । इस प्रकार का प्रयोग निराला के सशक्त व्यक्तित्व का परिचायक है । डा० रामरतन भटनागर ने ऐसी कविताओं के सन्दर्भ में अपना अभिमत इस प्रकार दिया है-

" सच तो यह है कि " सरोज- स्मृति " और कवि की अन्य आत्मपरक कविताएं हिन्दी के इतिहास की अमोल निधि रहेंगी । इन कविताओं में हम निराला के स्वस्थ, लोहे की तरह कड़े, आंच में तपाये हुए व्यक्तित्व की झलक पाते हैं । अपने साहित्यिक जीवन के प्रतिदिन के सुख- दु:ख के बीच कवि ने किस प्रकार भारती की पाठ- पूजा की है,

कैसे भाव के फूल चढ़ाये हैं, यह इन रचनाओं में मिलेगा ।`[१]

सरोज के शारीरिक सौन्दर्य का अंकन करने के बाद भी कवि को अपूर्णता का बोध हुआ, जिससे प्रेरित होकर निम्नलिखित पंक्तियों की अवतारणा हुई-

` क्या दृष्टि ! अतल की सिक्त धार
ज्यों भोगावती उठीं अपार,
उमड़ता ऊर्ध्व को कल सलील
जल टलमल करता नील - नील,
पर बंधा देह के दिव्य बांध ;
छलकता दृगों से साथ - साथ ।`

` क्या दृष्टि ` के बाद प्रयुक्त विस्मयसूचक विराम अर्थ की गहराई को व्यंजित करता है- मानो कवि द्वारा उसकी दृष्टि को शब्दों में बांधना असम्भव है । ` कामायनी ` में वर्णित श्रद्धा के सौन्दर्यांकन के लिए- आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम, बीच जब घिरते हों घनश्याम ` में ` आह ` और ` वह मुख ` के बाद प्रयुक्त विराम भी ऐसी ही अर्थ व्यंजना के द्योतक हैं ।

---

१- कवि निराला : रामरतन भटनागर, पृ०- १७३

कवि ने आगे चलकर उस ' दृष्टि ' का मनोरम वर्णन किया है। सरोज की दृष्टि ऐसे उठती है मानों भोगावती की अपार जलराशि एक गति के साथ ऊपर उठती हुई पर्वत को छू लेना चाहती है; लेकिन उसके समक्ष पृथ्वी की सीमा का एक बांध बंधा हुआ है, जिससे टकराकर उसे रुकना पड़ता है और उसकी गति मन्द पड़ जाती है। इसी प्रकार सरोज की दृष्टि भी युवावस्था की चंचलता और उल्लास के साथ ऊपर उठती है, किन्तु उसके समक्ष सुन्दर देह यष्टि का दिव्य बांध उपस्थित है जो अवस्थाजन्य लज्जा के रूप में उस पर अंकुश रखता है, अत: वह नेत्रों के मार्ग से छलक रही है।

यहां पर कवि ने एक संश्लिष्ट बिम्ब की संरचना की है, जो मार्मिक सर्जनात्मकता से पूर्ण है। दो विपरीत परिस्थितियों की एक साथ अवतारणा की सूचक युवावस्था को भोगावती के बिम्ब में बड़ी कुशलता और कोमलता के साथ अभिव्यक्त किया गया है, जो कवि की सर्जनात्मकता का परिचायक है।

' राम की शक्ति - पूजा ' निराला की उत्कृष्ट भाव व्यंजना तथा कलात्मक प्रौढ़ता की द्योतक कृति है। ' हिन्दी-साहित्य कोश ' में इसके सन्दर्भ में लिखा गया है-

" ' राम की शक्ति - पूजा ' में कवि का पौरुष और ओज

परमोत्कर्ष के साथ अभिव्यक्त हुआ है। महाकाव्य में ~~प्रस्तुत~~ भावगत औदात्य के अनुकूल कलागत औदात्य आवश्यक है। इस कविता में दोनों प्रकार की उदात्तताओं का नीर - क्षीर सम्मिश्रण हुआ है।"[1]

'राम की शक्ति - पूजा' की प्रारम्भिक पंक्तियों में ही कवि ने विषयानुकूल तत्सम शब्दावली का प्रयोग करते हुए सर्जनात्मक आयाम को सघनता दी है। खड़ी बोली को पौरुष और ओज से युक्त करने का यह प्रयास सराहनीय एवं अतुलनीय है।

' तीक्ष्ण - शर - विधृत- क्षिप्र - कर, वेग-प्रखर ' से लेकर ' उद्गीरित - वह्नि- भीम- पर्वत - कपि चतु:प्रहर - ' तक कवि ने संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया है। यद्यपि ये शब्द कर्ण- कटु एवम् कठोर लगते हैं, किन्तु कवि ने इन्हें तराश कर इस प्रकार प्रयुक्त किया है जो काव्य के प्रवाह में बाधक नहीं होते। जिस प्रकार एक तीव्र वेगवती पहाड़ी नदी अपने साथ कठोर प्रस्तर- खण्डों को बहाकर ले जाती है, जिसके साथ बहते - बहते तथा घिसते - घिसते वे कठोर प्रस्तर खण्ड सुन्दर और सुडौल रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, उसी प्रकार 'राम की शक्ति - पूजा' में प्रयुक्त तत्सम- शब्द सहजतया कठोर होते हुए भी निराला के विशिष्ट भाषा - प्रयोग के कारण काव्य के प्रवाह

---

1- हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2

में बाधक नहीं होते; अपितु विषयानुरूप प्रभावक्ता और ओजस्विता लाने के लिए आवश्यक ही प्रतीत होते हैं। काव्यभाषा के दो तत्व लय एवं प्रवाह मिलकर इतने वेगवान हो जाते हैं कि तथाकथित क्लिष्ट शब्द उसमें मंजकर और संस्कारित होकर नयी आभा एवम् आकार ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार की भाषा के सन्दर्भ में डा० रामरतन भटनागर ने लिखा है-

" इस प्रकार की संस्कृत गर्भित भाषा- शैली सामान्य पाठकों के लिए दुर्ग्राह्य थी; परन्तु कुछ छन्द की आवश्यकता के लिए, कुछ विषय की गम्भीरता और प्रभाव लाने के लिए इस प्रकार की भाषा- शैली का प्रयोग कवि ने किया।"[१] निराला की यह समासपरक शब्दावली ही युद्धभूमि की भीषणता को अभिव्यंजित करने में समर्थ थी। यह पूरा अंश खड़ीबोली पर आधारित हिन्दी काव्यभाषा के समक्ष एक चुनौती है। क्रिया- पद का लोप और सामासिक प्रयोग भाषा को समाहार शक्ति प्रदान करता है-

" तीक्ष्ण - शर - विधृत- क्षिप्र- कर, वेग - प्रखर,
शत शेल सम्वरण शील, नील- नभ- गर्जित - स्वर,
प्रतिपल- परिवर्तित व्यूह- भेद- कौशल- समूह--
राक्षस- विरुद्ध- प्रत्यूह, क्रुद्ध- कपि- विषम हूह, "

---

१- कवि निराला : एक अध्याय- डा० रामरतन भटनागर, पृ०-

यहां प्रयुक्त प्रत्येक शब्द शिल्पकार निराला ने मानो तराश-तराश कर लाये हों; जो विशिष्ट भावों, ध्वनियों को मुखर करने में समर्थ हैं। ` शतशेल सम्वरणशील ` की भयानकता को शकारबहुला शब्दावली और उभार कर सामने लाती है। ` नील- नभ- गर्जित- स्वर ` की गर्जना मानो भाषा की अपनी ही गूंज- अनुगूंज हो। `राक्षस- विरुद्ध - प्रत्यूह- क्रुद्ध- कपि- विषम- हूह ` द्वारा एक गम्भीर एवं रोमांचकारी वातावरण की सृष्टि होती है, जो कोमल शब्दावली द्वारा सम्भव नहीं था। ` क्रुद्ध - कपि - विषम- हूह ` द्वारा युद्ध की भीषणता का दृश्य साकार हो उठता है। तत्सम-प्रधान शब्दावली के बीच ` हूह ` का तद्भव - शब्द - प्रयोग कवि के आत्मविश्वास का परिचायक है तथा इससे शब्द की महत्ता से परे सन्दर्भानुरूप उसके प्रयोग की महत्ता प्रतिस्थापित होती है। इस प्रकार कवि ने तत्सम और तद्भव का एक साथ प्रयोग करके भाषा में एक नयी अर्थ- क्षमता भर दी है।

" विच्छुरित- वह्नि- राजीव नयन- हत- लक्ष्य- बाण,

लोहित- लोचन- रावण- मदमोचन- महीयान,"

इसमें राम की पराजय की आशंका और उससे उत्पन्न क्रोध का साकार रूप प्रस्फुटित हुआ है। `विच्छुरित- वह्नि ` के तत्सम शब्द

प्रयोग द्वारा क्रोधाग्नि की लपटें साक्षात् निकलती हुई- सी दीख पड़ती हैं। राम की निराश मन:स्थिति का चित्रण कवि इन शब्दों में करता है-

`अनिमेष- राम- विश्वजिद्दिव्य- शर- भंग- भाव,
विद्धांग- बद्ध- कोदण्ड- मुष्टि- खर- रुधिर- स्राव,`

इस मार्मिक चित्रांकन द्वारा कवि ने राम के भगवद् स्वरूप को ओट दे दी है; जिससे राम का मानवीय रूप सामने आ जाता है, जो संवेदना के निकट आने में ज्यादा समर्थ है। अनिमेष- राम ` में राम की स्तब्धावस्था की व्यंजना है। बाद में प्रयुक्त विराम उस स्थिति को और गहराई देता है। विश्वजिद्दिव्यशर ` का प्रयोग एक तरफ राम की प्रबल शक्ति को अभिव्यंजित करता है, वहीं ` भंग- भाव ` में श्रीहत होने की व्यंजना भी है। दो विपरीत भावों को व्यक्त करने वाले ये शब्द एक गम्भीर अर्थवत्ता से युक्त हैं, जिसमें राम के जीवन की दो परस्पर विरोधी स्थितियों का भाव अनुस्यूत है। ` विद्धांग ` शब्द की सत्ता और उसके अन्यात्मक नियोजन को प्रदर्शित करता है। जहां `विद्धांग ` और ` खर- रुधिर- स्राव ` राम के घात- विघात होने के परिचायक हैं, वहीं ` बद्ध- कोदण्ड- मुष्टि ` उनकी शूरवीरता एवं दृढ़ता को अभिव्यक्त करता है।

निराला ने विपरीत भाव व्यक्त करने वाले ऐसे शब्द- प्रयोगों द्वारा भाषा को सर्जनात्मकता प्रदान की है। विपरीत अर्थ ध्वनियाँ

की ऐसी टकराहट को उत्पन्न करना एक समर्थ सर्जनात्मक मनीषा द्वारा ही सम्भव है। कवि ने अपनी सशक्त भाषा द्वारा वानर-सेना के अदम्य साहस का वर्णन किया है-

" रावण- प्रहार- दुर्वार- विकल- वानर- दल- बल,-
मूर्च्छित - सुग्रीवांगद- भीषण- गवाक्ष- गय- नल,-
वारित- सौमित्र- मल्लपति- अगणित- मल्ल- रोध,
गर्जित - प्रलयाब्धि- क्षुब्ध- हनुमत- केवल - प्रबोध,
उद्गीरित- वह्नि- भीम- पर्वत- कपि- चतुः प्रहर,-
जानकी - भीरू- उर- आशा- भर, रावण- सम्वर।"

" रवि हुआ अस्त " से प्रारम्भ हुआ वाक्य " रावण- सम्वर " पर आकर समाप्त होता है। अठारह पंक्तियों पर विराम पायेहुए इस वाक्य में किसी भी प्रकार की भाषिक या व्याकरणिक त्रुटि नहीं है। यह कवि की संयमित दृष्टि का ही परिचायक है। रावण के प्रहार से समूची वानर-सेना विकल है, केवल प्रलयंकारी समुद्र की भांति गर्जना करते हुए हनुमान ही प्रबुद्धावस्था में हैं। अतिरोधों से जूझने वाली प्रवृत्ति, जो कवि के जीवन से जुड़ी हुई है, उनकी रचनाओं में भी अनायास आती रहती है। इसी मनोवृत्ति के फलस्वरूप इस विराट् दृश्य का अंकन हो सका है।

इस पूरे बंध की संश्लिष्ट शब्दावली सर्जनात्मकता की मूल आवश्यकता से प्रेरित है। कवि ने युद्ध जैसी एक विशेष स्थिति के चित्रण के लिए उसी के अनुरूप एक विशेष प्रकार की भाषा का प्रयोग किया, जो उसकी आवश्यकता थी। निराला भावानुरूप भाषा के प्रयोग में सिद्ध कवि थे। युद्ध के प्रसंग में उनकी भाषा ओज और पौरुष से युक्त है तो श्रृंगार के प्रसंग में अतीव लालित्यपूर्ण बन पड़ी है। इस सन्दर्भ में डा० गोपालदत्त सारस्वत के विचार इस प्रकार हैं-

" राम की शक्ति पूजा में भाषा- सौन्दर्य सर्वत्र विद्यमान है। विषय, अनुबन्ध, भाव एवं सन्दर्भ के अनुकूल भाषा में भव्यता, औदात्य, ओजस्विता एवं सप्राणता का व्यवहार करने में कवि ने असामान्य कौशल का परिचय दिया है। कहना न होगा कि शक्ति की पूजा की भाषा में गति है, स्फूर्ति है, क्षिप्रता है और है चित्रात्मकता।"[१]

श्रृंगारिक प्रसंग में प्रयुक्त कवि की भाषा का कोमल, कमनीय और लालित्यपूर्ण रूप प्रस्तुत है जो उसकी भाषा प्रयोग क्षमता को अभिव्यक्त करता है-

" ऐसे क्षण अन्धकार घन में जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी- तनया- कुमारिका- छवि, अच्युत

---

१- "निराला अभिनन्दन ग्रंथ" में संग्रहीत डा० गोपालदास सारस्वत का लेख

देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
विदेह का,- प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का- नयनों से गोपन- प्रिय सम्भाषण,-
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान- पतन,- "

संशयग्रस्त राम की मानसिकता को कवि स्मृति का आभास कराने वाली कल्पना की तरफ मोड़ता है। विद्युत की भांति सीता की छवि राम के मानस- पटल पर उभरती है जो एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि दुःख के समय स्वजनों की स्मृति हो आती है। जनक- वाटिका में राम और सीता का प्रथम- मिलन ( नयनों का ) होता है जिसमें चराचर प्रकृति भी भाग लेती है-

" कांपते हुए किसलय, झरते पराग- समुदाय,-
गाते खग नव- जीवन- परिचय, - तरु-मलय- वलय, -
ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय, - ज्ञात छवि प्रथम स्वीय,-
जानकी- नयन- कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।"

यहां पर निराला की काव्यभाषा प्रसंगानुकूल प्रयुक्त मृदु शब्दों एवं लय के साथ मिलकर एक मनोरम वातावरण की सृष्टि करती है। राम और सीता के प्रथम मिलन तथा परस्पर दृष्टिपात की कोमल स्थिति

का अंकन कवि ने बड़ी ही संवेदनशीलता के साथ किया है। इस मिलन से प्रकृति भी विभोर हो उठती है- जैसे— किसलयों में कम्पन होना, पराग- कण का झरना तथा पक्षियों के कलरव के रूप में नव-जीवन का परिचय प्रकृति की प्रसन्नता के ही द्योतक हैं। वृक्ष भी झूम-झूमकर परस्पर वलयित हो रहे हैं मानो आपस में गले मिल रहे हों।

`झरते पराग- समुदय` में `झरना` शब्द- प्रयोग द्वारा चाक्षुष बिम्ब की सृष्टि होती है। `गाते खग नव जीवन- परिचय` से प्रेममयी उत्फुल्लता अभिव्यक्त होती है। `ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय` का प्रयोग समस्त दृश्य को अलौकिकता प्रदान करता है। उदात्तता से परिपूर्ण स्वर्गीय ( अलौकिक ) प्रकाश का स्रोत मानो उस छवि में फूट पड़ा हो। इस प्रकार का संयमित और दिव्य शृंगारिक चित्र प्रस्तुत करके कवि ने काव्यभाषा को अत्यन्त सर्जनात्मक स्तर प्रदान किया है।

`राम की शक्ति पूजा` के अन्तिम चरण में जब राम पाते हैं कि पूजा के एक सहस्र कमल- पुष्पों में से सहसा एक फूल गायब हो जाता है; तो उन्हें गहरी हताशा का अनुभव होता है और उन्हें लगता है कि सफलता उन्हें नहीं मिलने वाली है। इस बिन्दु पर कवि और राम में एक ऐसे तादात्म्य की स्थिति बन जाती है, जहां कवि निराला राम

की हताशा को व्यक्त करते हुए जैसे अपने ही मन की गहरी निराशा को व्यक्त कर रहे हों। इस सन्दर्भ में ये पंक्तियां बेहद सार्थक दिखती हैं—

" धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध !"

किन्तु उस हताशा में राम के एक ऐसे मन का शोध भी कवि करता है जो कभी भी थकने वाला नहीं है। वैसे ही जैसे निराला के व्यक्तित्व में भी एक ऐसा अपराजेय तत्व रहा है जो किसी भी हताशा या निराशा में अन्तिम रूप से हार नहीं मानता है और गहन से गहन अन्धकार के क्षणों में अन्ततः वह फुफकार कर उठ खड़ा होता है। पराजय के सघनतम अन्धकार में अपराजेयता का एक सजग स्वर निराला को राम के व्यक्तित्व में सुनायी देता है और फिर राम मंद्र घन की तरह बोल उठते हैं— मां मुझे राजीव नयन कहती थीं, इसलिए एक तो क्या, अभी दो- दो नेत्र- कमल उनके पास शेष हैं। इस अन्तिम आस्वस्ति-भाव का चित्रण निराला ने बड़े ही सशक्त शब्दों में किया है-

" वह एक और मन रहा राम का जो न थका;
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय,

कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय,

बुद्धि के दुर्ग पहुंचा विद्युत- गति हत- चेतन "

इस प्रकार हम देखते हैं कि चरम निराशा के घोर अन्धकारपूर्ण क्षण में चरम विश्वास का एक प्रकाश- पुंज सहसा प्रस्फुटित हो जाता है और सारा परिदृश्य बदल जाता है।

तत्सम शब्द प्रयोग पर आधारित निराला की काव्यभाषा की सर्जनात्मकता परवर्ती कवियों के लिए एक आदर्श थी। इस सन्दर्भ में डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है-

" छायावादी काव्यभाषा में निराला की शक्ति- सामर्थ्य सबसे गहरी थी, पर उस तत्सम शब्दावली - प्रधान भाषा की अपने आप में सीमाएं भी थीं, जिनका अतिक्रमण करना परवर्ती कवि को अपने सर्जनात्मक संघरण के लिए जरूरी महसूस हुआ।"[१]

<u>सुमित्रानन्दन पन्त :</u>

छायावादी कवियों में प्रसाद और निराला के बाद पंत का नाम आता है। जहाँ प्रसाद जी ने भाषा की सर्जनात्मकता की नींव

---

१- अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ०- ६१

डाली, निराला ने उसे अपनी रचना द्वारा दृढ़ता प्रदान की, वहीं पंत ने भाषा और भाव का सामंजस्य स्थापित किया। `पल्लव` की भूमिका में उन्होंने स्वयं लिखा है-

"जहां भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहां स्वरों के पावस में केवल शब्दों के `बटु समुदाय` ही दादुरों की तरह इधर - उधर कूदते, फुदकते तथा सामध्वनि करते सुनायी देते हैं।"

सुमित्रानन्दन पंत हिन्दी भाषा के उत्कृष्ट शब्द- शिल्पी हैं। काव्यभाषा के रूप में खड़ीबोली को प्रतिष्ठित करने में पंत जी का विशेष योगदान रहा है। वे अपने समय में प्रचलित ब्रजभाषा को बहुत हेय दृष्टि से देखते थे। `पल्लव` की भूमिका में ही उन्होंने इस सन्दर्भ में लिखा है-

"ब्रजभाषा की उपत्यका में, उसकी स्निग्ध अंचल- छाया में, सौन्दर्य का कश्मीर भले ही बसाया जा सके, जहां चांदनी के झरने राशि- राशि मोती बिखराते हों, विहग कुल का कलरव भावना पृथ्वी को स्वर के तारों से गूंथ देता हो, सहस्र रंगों की पुष्पशय्या पर कल्पना का इन्द्रधनुष अर्द्ध प्रसुप्त पड़ा हो, जहां सौन्दर्य की वासन्ती नन्दन वन का स्वप्न देखती हो- पर उसका वक्षस्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्द; जल- स्थल, अनिल- आकाश, ज्योति-अंधकार,

वन- पर्वत, नदी - घाटी, नहर- खाड़ी, द्वीप- उपनिवेश, उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौन्दर्य, ऊष्ण- शीत प्रधान देशों के वनस्पति- वृक्ष, पुष्प- पौधे, पशु- पक्षी, विविध प्रदेशों की जलवायु, आचार- व्यवहार— जिसके शब्दों में वात- उत्पात, वह्नि- बाढ़, उल्का- भूकम्प सब कुछ समा सके, बांधा जा सके, जिसके पृष्ठों पर मानव- जाति की सभ्यता का उत्थान- पतन, वृद्धि- विनाश, आवर्तन- विवर्तन, नूतन- पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके; जिसकी अलमारियों में दर्शन, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, राजनीति, समाजनीति, कला- कौशल, कथा- कहानी, काव्य - नाटक सब कुछ सजाया जा सके।"

पंत जी ने अपनी कविता में शब्दों का प्रयोग भी अपने ढंग से किया है। वे शब्दों को आवश्यकतानुसार स्त्री लिंग से पुल्लिंग और पुल्लिंग से स्त्री लिंग बनाकर प्रयोग करते थे। उन्होंने काव्य में शब्द और अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं किया-

कविता में शब्द और अर्थ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं, तब भिन्न- भिन्न आकारों में कटी - छंटी शब्दों की शिलाओं का अस्तित्व ही नहीं मिलता, राग के लेप से उनकी संधियां एकाकार हो जाती हैं; उनका अपना रूप भाव के वृहत्तत्स्वरूप में बदल जाता, किसी के कुशल करों का मायावी स्पर्श

उनकी निर्जीवता में जीवन फूंक देता, वे अहल्या की तरह शापमुक्त हो जग उठते, हम उन्हें पाषाण- खण्डों का समुदाय न कह, ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह, काव्य कहने लगते हैं।"

इस प्रकार भाषा के क्षेत्र में कविवर पंत की सर्जनात्मकता का महत्व आत्यन्तिक है। खड़ी बोली को काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में पंत का सर्वाधिक योग रहा है—

" खड़ी बोली को काव्योचित भाषा देने का एकच्छत्र श्रेय पंत को है। यदि पंत का कवि नहीं आया होता तो आज छायावाद की कविता अपनी कोमल अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा को अपना लेती। ब्रजभाषा ने मध्ययुग से लेकर अभी तक जो कल-कोमल प्रांजलता, मनोहर चित्र- चारुता प्राप्त की थी, उसे पंत ने कुल बीस- पच्चीस वर्षों के काव्य- जीवन में ही खड़ी बोली को दे दिया। भाषा के परिवर्तन में पंत का महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि ब्रजभाषा को मधुर बनाने के लिए अढ़ाई- तीन सौ वर्षों के बीच में एक के बाद सैकड़ों कवियों का सहयोग मिलता गया, किन्तु पंत को अकेले ही खड़ी बोली का सौन्दर्य- विन्यास करना पड़ा है। उन्होंने खड़ी बोली को जो व्यक्तित्व दे दिया है उसका अतिक्रमण कर आज भी कोई आगे नहीं बढ़ सका है।"[१] सम्भव है यह उक्ति अतिशयोक्ति लगे, परन्तु इसमें

१- पं० शांतिप्रिय द्विवेदी: 'पंत और महादेवी' निबन्ध से उद्धृत

निहितार्थ संकेत से इनकार नहीं किया जा सकता ।

केवल काव्यभाषा ही नहीं वरन् अन्य क्षेत्रों में भी पंत की सर्जनात्मकता स्मरणीय है। छन्द- प्रयोगों में उन्होंने अपनी अलग पद्धति अपनायी है। कहीं - कहीं छन्दों की एकस्वरता को तोड़ने और भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरणों को घटा-बढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है-

" विभव की विद्युत् ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल ।"

यहाँ ऊपर के चरण में चार मात्राएं घटा दी गयी हैं, जिससे उसकी गति मंद पड़ गयी है। फलस्वरूप नीचे के चरण का प्रभाव और बढ़ गया है। भाषा में छन्दों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए पंत जी ने लिखा है-

" प्रत्येक भाषा के छन्द उसके उच्चारण संगीत के अनुकूल होने चाहिए। जिस प्रकार पतंग डोर के लघु- गुरु संकेतों की सहायता से और भी ऊंची - ऊंची उड़ती जाती है, उसी प्रकार कविता का राग भी छन्द के इंगितों से दृप्त तथा प्रभावित होकर अपनी ही उन्मुक्ति में अनन्त की ओर अग्रसर होता जाता है। हमारे साधारण वार्तालाप

में भाषा- संगीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नहीं प्राप्त होता, उसी की पूर्ति के लिए काव्य में छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ है।"[१] पंत जी की सर्जनात्मकता उनकी रचनाओं में सर्वत्र विद्यमान है। ' पल्लव ' की 'बादल ' कविता इसका सशक्त उदाहरण है, जिसके प्रत्येक पद में सर्जनात्मकता का नया आयाम विकसित हुआ है-

" जलाशयों में कमल दलों- सा
हमें खिलाता नित दिनकर,
पर बालक- सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर; "

बादल ' में ' शैली में अपनी कहानी सुनाता है। वह कहता है कि जिस प्रकार जलाशयों में अवस्थित कमल सूर्य की किरणों के स्पर्श से ही विकसित होते हैं, उसी प्रकार हम बादलों का अस्तित्व भी सूर्य की किरणों द्वारा ही सम्भव हुआ है। कवि ने विस्तृत आकाश को ही जलाशय के रूप में स्वीकार किया है, जिसमें समुद्र के जल का अवशोषण करके सूर्य की किरणें उन्हें बादल का स्वरूप प्रदान करती हैं।

कवि आकाश में बिखरे हुए मेघ- खण्डों को देखकर कल्पना करता

---

१- ' पल्लव ' - प्रवेश : सुमित्रानन्दन पंत, पृ०- २९८

है मानो कमल की पंखुड़ियां ही बादलों के रूप में बिखरी हुई हैं, जिन्हें वायु रूपी चंचल बालक ने पूरे आकाश मण्डल में फैला दिया है। यहां पर कवि ने कल्पना के साथ ही वैज्ञानिकता का सहारा लिया है। बादलों की उत्पत्ति का निमित्त भी सूर्य की किरणें ही होती हैं, यह वैज्ञानिक सत्य है; इस सत्य और कल्पना के संयोग से कवि ने एक सुन्दर बिम्ब की रचना की है, जो कवि की सर्जनात्मक उपलब्धि है। ऐसे बिम्बों से यह कविता भरी पड़ी है।

इसी प्रकार पंत की बिम्ब-योजना का एक अन्य उदाहरण देखा जा सकता है-

"लघु लहरों के चल पलनों में
हमें झुलाता जब सागर
वही चील-सा झपट, बांह गह,
हमको ले जाता ऊपर।"

यहां कवि ने समुद्र के जल में प्रतिबिम्बित बादल को देखकर कल्पना की है कि समुद्र अपनी लहरों के चंचल पालने में बादल को झुला झुला रहा है। समुद्र के जल में लहरों के उठने - गिरने के कारण बादल का प्रतिबिम्ब कवि को झूलता हुआ प्रतीत हो रहा है। कभी-कभी वायु-प्रयोग के कारण जल में लहरों के उठने - गिरने की प्रक्रिया

अत्यन्त तीव्र हो जाती है, जिससे उसमें किसी प्रकार का प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं हो पाता; इस प्रक्रिया के सन्दर्भ में कवि बादल के शब्दों में कहता है कि जब मैं लहरों के पलने में झूल रहा होता हूं, उसी समय वही चपल वायु मुझे चील की भांति झपट कर ऊपर खींच लेता है। इस पद में कवि ने वायु, बादल और समुद्र तीनों का मानवीकरण कर दिया है। प्रथम दो पंक्तियों को पढ़ते ही जल में प्रतिबिम्बित झूलते हुए बादल का दृश्य साकार हो उठता है। कवि ने यहां भाषा को नये सन्दर्भ के साथ प्रस्तुत करके सर्जनात्मकता का परिचय दिया है।

यद्यपि सम्पूर्ण ' बादल ' कविता ही सर्जनात्मक कल्पना और बिम्ब- योजना से परिपूर्ण है; किन्तु कहीं - कहीं तो उनकी कल्पना अत्यन्त मौलिक प्रतीत होती है-

" भूमि गर्भ में छिप विहंग - से,
फैला कोमल रोमिल पंख,
हम असंख्य अस्फुट बीजों में
सेते सांस, छुड़ा जड़- पंक "          — बादल

प्रस्तुत पद में कवि ने बादलों को पक्षियों के रूप में प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार पक्षी अण्डों के ऊपर अपने रोयेंदार पंखों को फैलाकर उन्हें जीवन प्रदान करने के लिए सेने की प्रक्रिया पूर्ण करते हैं,

उसी प्रकार बादल भी भूमिगत बीजों को जीवन प्रदान करते हैं। यहां कवि ने आकाश में छाये हुए बादलों को ही एक विशाल पक्षी के रूप में प्रस्तुत किया है जो क्षितिज तक फैले हुए अपने पंखों को फैलाकर बैठा हुआ है। भूमिगत बीजों के चारों तरफ नमी के कारण कीचड़ जमा हो जाता है, जो बरसात होने पर ही छूटता है और तब उनमें अंकुरण की प्रक्रिया पूर्ण होती है।

इस प्रकार बीजों को जीवन्त रूप देने का निमित्त बादल ही होता है। कवि ने इस यथार्थ को ही अपनी कल्पना में संगुम्फित करके एक सशक्त बिम्ब की संरचना की है। पंत जी ने शब्दों के द्वारा रूप, रंग और आकार का जितना सूक्ष्म चित्रण किया है, वह अपने-आपमें अद्वितीय है। भावों के अनुरूप शब्दों का प्रयोग करना पंत की विशेषता है। शब्द- शिल्पी कहे जाने वाले कविवर पंत ने कविता के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता समझी, जो बिना किसी प्रयास के भावों को सम्प्रेषित करने में सक्षम हो। स्वयं इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करके उन्होंने सर्जनात्मकता का गहरा परिचय दिया है। `पल्लव` की भूमिका में उन्होंने इस सन्दर्भ में विस्तृत विवेचन किया है-

" कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की

मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भावों को अपनी ही ध्वनि में आंखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हो, जिनका भाव-संगीत विद्युतधारा की तरह रोम- रोम में प्रवाहित हो सके, जिनका सौरभ सूंघते ही सांसों द्वारा अन्दर पैठकर हृदयाकाश में समा जाय, जिनका रस मदिरा की फेनराशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उसके चारों ओर मोतियों की झालर की तरह झूमने लगे, छते में न समाकर मधु की तरह टपकने लगे; अर्द्ध-निशीथ की तारावली की तरह जिनकी दीपावली अपनी मौन जड़ता के अन्धकार को भेदकर अपने ही भावों की ज्योति में दमक उठे, जिनका प्रत्येक चरण प्रियंगु की डाल की तरह अपने ही सौन्दर्य के स्पर्श से रोमांचित रहे, जापान की दीपमालिका की तरह जिनकी छोटी - छोटी पंक्तियां अपने अन्तस्तल में सुलगी ज्वालामुखी को दबा न सकने के कारण अनन्त श्वासोच्छ्वासों के भूकम्प में कांपती रहें।"

पंत की रचनाएं इस कसौटी पर खरी उतरती हैं। उनकी भाषा भावों को व्यक्त करने में काफी समर्थ है। ` बादल ` कविता में बादलों के आकार, रंग, उनके कार्य एवम् उनके मानवीय उपयोग- इन सबका एकत्र संतुलन विद्यमान है। आगे चलकर इस कविता की एक- एक पंक्ति

में एक - एक बिम्ब नियोजित मिलते हैं—

" कभी चौकड़ी भरते मृग - से
भू पर चरण नहीं धरते,
मत्त मतंगज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते;

कभी कीश - से अनिल डाल में
नीरवता से मुंह भरते,
बृहद् गृद्ध से विहग छदों को
बिखराते नभ को तरते।"
— बादल

इन पंक्तियों में कवि ने बादल को कई रूपों में अभिव्यक्त किया है। कभी - कभी आकाश में घिरे हुए बादल बहुत तेजी से भागने लगते हैं, जिसे देखकर कवि ने कल्पना की है मानो ये बादल न होकर चौकड़ी भरते हुए मृग हों। मृग इतनी तेजी से दौड़ता है कि उसके पैर जमीन पर पड़ते हुए नहीं दीख पड़ते। यहां " चौकड़ी " शब्द का प्रयोग अत्यन्त सार्थक है, जो मृग की तीव्रतम चाल को अभिव्यक्ति देता है। " चौकड़ी " के स्थान पर प्रयुक्त अन्य कोई शब्द इतना साकार बिम्ब नहीं उभार सकता था। आकाश में घिरी हुई काली - काली

घटाओं में कवि कभी मतवाले विशालकाय हाथी की कल्पना करता है जो मानो झूमते हुए चल रहे हैं और कभी सजगतापूर्वक आकाश में विचरण करते हुए खरगोश की कल्पना जागृत होती है।

' मद मतंगज कभी झूमते ' में प्रत्येक शब्द हाथी की विशालता उसके स्वभाव एवं उसकी गम्भीर चाल को अभिव्यक्ति देने वाले हैं, जिन्हें पढ़ते ही झूमकर चलते हुए विशालकाय हाथी का बिम्ब दृश्यमान हो उठता है। इसी प्रकार ' सजग शशक नभ को चरते ' द्वारा सतर्क दृष्टि के साथ इधर से उधर फुदकते हुए खरगोश का बिम्ब साकार हो उठता है। शब्दों का इतना सफल और सटीक प्रयोग अन्यत्र असम्भव है।

दूसरे पद में कवि ने बादलों को डालियों पर लटकते हुए बन्दर के रूप में प्रस्तुत किया है। अत्यन्त नीचे लटकते हुए स्वम् हवा में तिरते हुए बादलों को देखकर कवि कल्पना करता है मानो ये बादल न होकर हवा में लटके हुए बन्दर हों, जो मुंह ऊपर करके शून्यता का भक्षण -सा कर रहे हों। स्वभावतः बन्दर डालियों पर उल्टा लटक जाते हैं और मुंह ऊपर करके खोल देते हैं। इसी साभिप्राय में ' अनिल डाल ' का प्रयोग किया गया है। पुनः कवि ने बादल को एक विशाल गिद्ध के बिम्ब में आबद्ध किया है। जिस प्रकार गिद्ध के आ जाने पर मांसादि भक्षण के लिए एकत्रित छोटी- छोटी पक्षियां उड़कर इधर- उधर बिखर

जाती है, उसी प्रकार किसी विशाल मेघ- खण्ड के आ जाने पर छोटे - छोटे बादलों का समूह आकाश में इधर - उधर बिखर जाता है। इस प्रकार कवि ने एक सफल एवं सशक्त बिम्ब की संरचना की है। उपर्युक्त दोनों पदों में चाक्षुष- बिम्ब का अद्भुत संयोजन हुआ है। भाषा के नये अर्थ- सन्दर्भों को प्रस्तुत करने वाले ये पद अलग- अलग कई प्रकार के बिम्बों से संयुक्त हैं।

किन्हीं- किन्हीं पदों में तो कवि ने एक ही पंक्ति में एकाधिक बिम्बों का नियोजन किया है, जिसमें सर्जनात्मकता के साथ ही वैज्ञानिक तथ्य भी निहित है। उदाहरण स्वरूप यह पद प्रस्तुत है-

" हम सागर के धवल हास हैं,

जल के धूम, गगन की धूल,

अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,

वारि वसन, वसुधा के मूल; "

प्रथम पंक्ति में कवि ने आकाश में फैले हुए श्वेत बादलों को समुद्र की धवल हंसी के बिम्ब में बांधा है। साहित्य में " हास्य " का रंग श्वेत माना गया है तथा बादलों का रंग भी श्वेत है अतः "धवल हास " का प्रयोग परम्परित विधान पर आधारित है। बादलों

रक्तामा छिर हुए मेघखण्ड ऊषा नायिका के अधर हैं। फिर जैसे इतना ही काफी न हो, इस बिम्ब में वायु द्वारा प्रकम्पित मेघ किसलय-होठों के कम्पन की छाया भी व्यक्त करते हैं। इस बिम्ब में और भी संकेत निहित है। जैसे ऊषा एक टहनी हो और उस पर अंकुरित होने वाले लाल-लाल किसलय ये प्रात:कालीन रक्ताभ मेघ-खण्ड हों।

भाषा को नये अर्थ-सन्दर्भों के साथ प्रस्तुत करना एक कवि की सर्जनात्मकता की कसौटी होती है और पंत जी इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। अन्तिम पंक्ति में कवि ने 'बादल' को 'वारि वसन' कहकर एक सशक्त बिम्ब की रचना की है। 'वारि वसन' का शाब्दिक अर्थ तो हुआ— जल का वस्त्र, किन्तु इसके अन्तर्गत एक दूसरी ही अर्थ-छाया निहित है और वह है- श्वेत आवरण में लिपटी हुई एक नारी का बिम्ब। जिस प्रकार वस्त्र के भीतर एक नारी का सम्पूर्ण अस्तित्व झिलमिलाता रहता है, उसी प्रकार बादल के अन्तर्गत जल का अस्तित्व निहित होता है जो पूर्णतया बादलों द्वारा आवेष्ठित होता है। यह एक शाश्वत सत्य भी है। इस तरह कवि की शब्द-योजना कल्पना और यथार्थ के मेल से एक सुन्दर बिम्ब की सृष्टि करती है जो रचना के स्तर पर सर्जनात्मक भी है। 'वारि' का एक अर्थ 'नारी' भी होता है तथा 'वारि' का

`नारि` के साथ गजब का ध्वनि- साम्य भी है। आगे प्रयुक्त `वसुधा के मूल` भी एक गहरी अर्थ-व्यंजना से जुड़ा हुआ है। बादलों की उत्पत्ति पृथ्वी के गर्भ से निःसृत जल धारा होती है; इस सन्दर्भ में भी वे स्वयं को `वसुधा के मूल` कह सकते हैं या कि जब बादल पृथ्वी पर जल-रूप में बरसते हैं और पृथ्वी हरी - भरी फसलों से लहलहा उठती है, इस प्रकार बादल ही पृथ्वी की सम्पन्नता के कारक हैं, अतः उनका `वसुधा के मूल` कहना औचित्यपूर्ण ही होगा।

निम्नलिखित पंक्तियों से और भी गहरी अर्थ-व्यंजनाएं निःसृत होती हैं जो कवि की सर्जनात्मकता का परिचायक है-

`नभ में अवनि, अवनि में अम्बर,
सलिल- भस्म, मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल
दिन के तम, पावक के तूल।`

प्रस्तुत पद में बादलों की अभिव्यक्ति इस प्रकार है- हम बादल ही पृथ्वी के अस्तित्व को आकाश में कायम रखते हैं अर्थात् जब आकाश मेघाच्छादित रहता है, उस समय जल से निर्मित होने के कारण वहां पृथ्वी का अस्तित्व बना रहता है। इस प्रकार `नभ में अवनि` का प्रयोग एक गहरी अर्थ-व्यंजना को उद्भूत करता है। `अवनि में अम्बर`

प्रयोग भी उपर्युक्त अर्थ-व्यंजना से ही जुड़ा हुआ है। बादल आकाश-मण्डल से ही पृथ्वी पर बरसा करते हैं। इस प्रकार जल की धारा पृथ्वी पर गिरती हुई भी आकाश से जुड़ी होती है। बादलों का अस्तित्व तो जल के रूप में पृथ्वी पर बिखर जाता है, किन्तु उसका उद्गम- स्थल आकाश ही होता है; अतः बादलों का यह कथन कि वे पृथ्वी पर रहते हुए भी आकाश से जुड़े होते हैं; अत्यन्त तर्कसंगत एवं सर्जनात्मक है। कवि ने यहां साधारण शब्द- प्रयोग द्वारा ही अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहरी अभिव्यक्ति को साकार किया है। बादलों के लिए प्रयुक्त ' सलिल भस्म ' का प्रयोग भी अत्यन्त मौलिक एवं सर्जनात्मक है; क्योंकि किसी भी वस्तु का भस्म उसे जलाने की प्रक्रिया द्वारा ही प्राप्त किया जाता है तथा बादलों की उत्पत्ति भी जल के वाष्पीकरण द्वारा ही होती है। साथ ही दोनों में रंग - साम्य भी पाया जाता है। भस्म का रंग काला या भूरा होता है तथा बादलों का रंग भी प्रायः काला या भूरा होता है। बादलों के लिए ' मारुत के फूल ' का प्रयोग एक चारुगुण-बिम्ब की सृष्टि करता है। यों तो बादलों में अनेक प्रकार की आकृतियां उभरती प्रतीत होती हैं। जैसे वायु की टहनी में बादलों के गुच्छ के गुच्छ अपने भीतर फूलों की उत्फुल्लता, जीवन्तता, वर्ण, गन्ध सभी कुछ को संकुल कर जाते हैं।

जब आकाश में छाए हुए बादलों का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है तो

वहां स्थल का भान होने लगता है, साथ ही स्थल पर जल बरसने का निमित्त भी बादल ही होता है; अतः कवि ने बादलों के लिए `जल में थल` एवं `थल में जल` का सर्जनात्मक प्रयोग किया है, यहां पर बादल स्वयं को जल में स्थल की अवतारणा करने वाले एवं स्थल को जलमय बना देने वाले एक सशक्त कारक के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। स्वयं को `दिन के तम` कहने वाले बादल सचमुच जब पूर्णतया आकाश को आच्छादित कर लेते हैं तो सम्पूर्ण पृथ्वी गहन अन्धकार में डूब जाती है। सूर्य की प्रबल किरणों को अप्रभावी बना देने वाले ये बादल `पावक के तूल` भी हैं। सान्ध्य काल में जब सूर्यास्त के कारण आकाश रक्ताभ हो उठता है तो आकाश में छाए हुए बादल भी लाल दिखने लगते हैं जो आग की रूई जैसे प्रतीत होते हैं। इस प्रकार `पावक के तूल` शब्द- प्रयोग सहज कल्पना एवं सर्जनात्मकता से परिपूर्ण है।

कवि की सर्जनात्मकता को अभिव्यक्ति देने वाले ये प्रयोग अत्यन्त सहज एवं अर्थ-गाम्भीर्य से परिपूर्ण हैं। शब्द- शिल्पी कवि पंत ने अपनी अनेक रचनाओं में इस प्रकार की सर्जनात्मकता को प्रश्रय दिया है। `बादल` के अतिरिक्त भी पन्त की अनेक ऐसी रचनाएं हैं, जो उनकी भाषा की सर्जनात्मकता के लिए बेजोड़ हैं। `परिवर्तन` कविता `पल्लव` की प्रतिनिधि रचना है। यह कविता एक स्वर से पंत जी की श्रेष्ठतम रचना

मानी जाती है। कोमलता और सौन्दर्य के कवि को संसार की कठोरता का भी उतना ही जीवन्त अनुभव है। जगत में बहुविध होते हुए `परिवर्तन ने उनके दृष्टि-बोध में भी परिवर्तन ला दिया। कवि के ही शब्दों में-

``पल्लव ` की प्रतिनिधि रचना `परिवर्तन ` में विगत वास्तविकता के प्रति असंतोष तथा परिवर्तन के प्रति आग्रह की भावना विद्यमान है। साथ ही जीवन की अनित्य वास्तविकता के भीतर नित्य सत्य को खोलने का प्रयत्न भी है, जिसके आधार पर नवीन वास्तविकता का निर्माण किया जा सके।"[१]

परिवर्तन ` कविता भाषा और सर्जनात्मकता की दृष्टि से बेजोड़ है। उदाहरणार्थ यह पद उद्धृत है-

अहे वासुकि सहस्र फन !
लक्ष - अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर !
शत - शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पान्तर,

---

१- रश्मि बन्ध- परिवर्तन, पृ०- १२

अखिल विश्व ही विवर,

वक्र कुण्डल

दिङ्मण्डल ।"

प्रस्तुत कविता में कवि ने ' परिवर्तन ' की नागराज वासुकि से समता प्रतिस्थापित की है। परिवर्तन द्वारा उत्पन्न विध्वंस से कवि का संवेदनशील हृदय चीत्कार कर उठता है। अतः कवि उसे ' निष्ठुर ' सम्बोधन प्रदान करता है और कहता है कि हे परिवर्तन ! तुम तो सहस्र फन वाले नागराज वासुकि हो। तुम अपने लाख पैरों से, जो भौतिक दृष्टि से बोझिल रहते हैं, संसार के वक्षस्थल को रौंदते रहते हो। जब तुम फुंकारें लेते हो तो तुम्हारे मुख से विषैली फेन निकलती है, साथ ही तुम्हारी भयंकर गर्जना से सम्पूर्ण आकाश घूमता हुआ- सा प्रतीत होता है। आकाश में घिरने वाली प्रलयंकारी घटाएं मानो तुम्हारे मुख से निकलने वाली विषयुक्त फेन से ही निर्मित हैं। परिवर्तन के समय आकाश में प्रलयंकारी घटाएं घिर आती हैं जिन्हें कवि परिवर्तन रूपी वासुकि नाग के मुख से निकलने वाली विषैली फेन के रूप में अभिव्यक्त करता है; जो एक अत्यन्त सर्जनात्मक प्रयोग है। उन प्रलयंकारी घटाओं की भयंकर गर्जनाएं ही मानो वासुकि- परिवर्तन की भयंकर फूत्कारें हैं। 'शत - शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर ' में प्रयुक्त प्रतीक एक

शिथिल गति के साथ आगे बढ़ता है। साथ ही यहां नाद और लय का अपूर्व संयोग अभिव्यक्त होता है।

यद्यपि पंत जी कोमल कल्पना के कवि हैं, किन्तु प्रस्तुत रचना का धरातल अत्यन्त कठोर है, जिसके लिए तदनुरूप क्लिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया गया है। संयुक्त वर्ण- विन्यास भयंकर वातावरण की उत्पत्ति में भरपूर सहायक है। आगे की पंक्तियों में कवि की कल्पना और भी सघन हो जाती है। कवि परिवर्तन को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे परिवर्तन। मृत्यु ही मानो तुम्हारा विषभरा दांत है। वासुकि का काटा हुआ प्राणी किसी भी उपचार से जीवित नहीं बच सकता; उसी प्रकार परिवर्तन की चपेट में आया हुआ प्राणी भी नष्टप्राय हो जाता है। जब समस्त सृष्टि का विनाश हो जाता है, तब नूतन सृष्टि की संरचना होती है; यह प्रक्रिया परिवर्तन रूपी वासुकि द्वारा पुरानी केंचुली का परित्याग कर नयी केंचुली धारण करने का द्योतक है।

परिवर्तन की व्याप्ति की ओर संकेत करते हुए कवि सम्पूर्ण विश्व को उस काल सर्प का विवर कहता है। अतः " अखिल विश्व ही विवर " का प्रयोग सार्थक एवं प्रयोग की नवीनता से युक्त है। वासुकि कुण्डली मारकर बैठता है। परिवर्तन- नाग की कुण्डली की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने " दिङ्मण्डल " शब्द का प्रयोग किया है। दिशाओं की

गोलाकार प्रतीति ही मानो परिवर्तन रूपी वासुकि की कुण्डली है।

सम्पूर्ण पद एक गम्भीर एवं भयंकर वातावरण की सृष्टि करता है। भावों के अनुरूप शब्दों का प्रयोग कवि की शब्द- चयन की कुशलता को व्यंजित करता है। परिवर्तन का मानवीकरण करते हुए कवि ने वासुकि के समस्त क्रिया-कलाप को उसके अन्तर्गत बड़े ही दक्षतापूर्वक समाहित कर दिया है। 'पल्लव' की भूमिका में कवि ने कविता के लिए जिस चित्र-भाषा की आवश्यकता पर बल दिया है, वह अपनी पूरी सार्थकता के साथ प्रस्तुत पद में अभिव्यंजित है।

संसार की अनित्यता से विषण्ण कवि परिवर्तन के अनिष्टकारी रूप की ही कल्पना करता है। परिवर्तन के विनाशकारी चित्रण के साथ ही भाषा की सर्जनात्मकता का सुन्दर नियोजन प्रस्तुत पद में द्रष्टव्य है-

जगत का अविरत हृत्कम्पन

तुम्हारा ही भय सूचन

निखिल पलकों का मौन पतन

तुम्हारा ही आमंत्रण।

विपुल वासना विकल विश्व का मानस शतदल

छान रहे तुम, कुटिल काल कृमि- से घुस पल- पल;

तुम्हीं स्वेद- सिंचित संसृति के स्वर्ण शस्य दल

दलमल देते, घर्षोंफल बन, वांछित कृषि फल !
आये, सतत ध्वनि स्पंदित जगती का दिङ्मण्डल
नैश गगन- सा सकल
तुम्हारा ही समाधि- स्थल !"

कवि परिवर्तन को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे परिवर्तन ! संसार के समस्त प्राणी का हृदय अनवरत धड़कता रहता है। यह प्रक्रिया मानो तुम्हारे भय की ही सूचक है। सांसारिक जीवों का सर्वदा के लिए आँखें मूँद लेना तुम्हारे आमंत्रण का ही प्रतिफल होता है। अनेक प्रकार की इच्छाओं से परिपूर्ण मनुष्य के हृदय को घात-विघात कर देने वाले हे परिवर्तन ! तुम उस कुटिल कीड़े की भांति हो, जो कमल-पुष्प के अन्दर प्रविष्ट होकर उसकी पंखुड़ियों को भीतर ही भीतर कुतरता रहता है। किसानों को भी तुम उनके वांछित कृषिफल से वंचित कर देते हो; क्योंकि कभी वृष्टि एवं कभी ओला बनकर उनकी फसलों को विनष्ट कर देते हो। कवि की सर्जनात्मकता यहां अपने चरम रूप में अभिव्यक्त हुई है। पंत की मान्यता कि शब्द के बाहर उसकी अर्थ सत्ता नहीं होती, वरन् दोनों एकात्म रहती है, उनके प्रयोगों में कहीं- कहीं अत्यन्त सटीक रूप में व्यक्त होती है। ` नैश गगन- सा सकल। तुम्हारा ही समाधि-स्थल ` में कब्रिस्तान की निस्तब्धता रात्रि के आकाश में अद्भुत रूप से व्यंजित होती है।

# पंचम अध्याय

## महादेवी वर्मा के काव्य की पृष्ठभूमि

महादेवी वर्मा छायावादी कवियों में एकमात्र ऐसी हैं, जिनकी औपचारिक शिक्षा विश्वविद्यालय में अपनी पूर्णता तक पहुंच सकी थी । उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत- साहित्य में एम० ए० की परीक्षा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण की थी । संस्कृत- भाषा और साहित्य का एक गहरा संस्कार उनकी काव्य- रचना का आन्तरिक तत्व बना । महादेवी के जीवन के विकास का क्रम भी ऐसा रहा कि उनके अन्तर्मन में वेदना और करुणा के तत्व प्रधान होते चले गये । संस्कृत- साहित्य में करुण- रस की बहुत गहरी परम्परा रही है । महाकवि भवभूति तो इस रस के महान रचनाकार माने गये हैं । पूरा ` उत्तररामचरित ` करुण रस का एक अद्भुत कोष है । महादेवी इस करुण रस की निष्पत्ति में उस महान् काव्य का अवदान सफलतापूर्वक ग्रहण कर सकी हैं । उनका अपना जीवन जहां एक और साहित्यिक संस्कारिता से सम्पन्न रहा, वहीं दूसरी ओर पारिवारिक सुखों के सन्दर्भ में अधूरा रहा । उन्हें अपने मां- बाप का प्यार तो मिला और भाई- बहनों का सान्निध्य भी; किन्तु उनका वैवाहिक जीवन पूर्णरूप से असफल रहा । वे अपने पति के साथ सुखी दाम्पत्य- जीवन नहीं बिता सकीं । उन्हें विवाह के तत्काल बाद ही ऐसा प्रतीत हुआ कि उनके पति का व्यक्तित्व उनकी

मनोवांछा के अनुकूल नहीं है और यहीं उन्होंने विरक्त और विषण्ण होकर अपना स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने का निर्णय ले लिया। उन्होंने साहित्य सृजन और सामाजिक जागरण के क्षेत्रों में समान रूप से सक्रियता दिखलायी । नारी- शिक्षा के क्षेत्र में उनका योगदान विशिष्ट माना जायेगा, क्योंकि उन्होंने अपना पूरा जीवन एक विशाल महिला शिक्षा- संस्थान के निर्माण और संचालन में लगा दिया; दूसरी ओर वे निरन्तर कविता और संस्मरण लिखती रहीं। अपने निजी जीवन के उस गहरे अधूरेपन ने उनके भीतर एक विशिष्ट पीड़ा बोध को जन्म दिया। उन्होंने अपने मन को उस अज्ञात सत्ता की ओर केन्द्रित किया, जिसे अपना प्रियतम घोषित करते हुए निरन्तर उसके विरह के गीत गाये। इस रचना-प्रक्रिया में उन्हें संस्कृत- साहित्य से प्राप्त शब्दावली और भारतीय परम्परा के प्रतीक बार- बार उपयोग में आए हैं।

महादेवी जी की काव्यभाषा में हम उस मिश्रित रूप को नहीं देखते, जो उर्दू और हिन्दी के मिलने- जुलने से बनता है। इसमें प्रारम्भ से अन्त तक संस्कृत की तत्सम शब्दावली देखने को मिलती है। फिर भी महादेवी की काव्यभाषा अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" के "प्रिय-प्रवास" जैसी क्लिष्ट और दुरूह नहीं है और न ही निराला के "राम की शक्ति-पूजा" या सुमित्रानन्दन पंत के "परिवर्तन" जैसी जटिल। महादेवी की काव्य-साधना उनकी जीवन-साधना की ही भांति एक सूनेपन में आस्था के निष्कम्प दीप का पूरी रात जलने जैसी है। इसीलिए उनके काव्य में आराधना और तिल- तिलकर जलने का भाव प्रखर एवं प्रचुर रूप से दृष्टिगोचर होता है।

# अष्टम् अध्याय

## महादेवी वर्मा : काव्यभाषा के विविध आयाम

### (क) महादेवी वर्मा के काव्य में प्रतीक-योजना :

महादेवी वर्मा की काव्यभाषा में प्रारम्भ से अन्त तक एक विचित्र एकरूपता दृष्टिगोचर होती है। छायावादी कवियों में निराला और पंत की भाषा में तो पर्याप्त वैविध्य का दर्शन होता है, विशेषकर निराला के काव्य में। जहां एक तरफ उनकी 'जुही की कली,' 'बादल-राग,' 'सन्ध्या-सुन्दरी' (निराला); 'बादल,' 'मौन-निमंत्रण,' 'प्रथम-रश्मि' (पंत) जैसी कविताएं हैं; वहीं 'सरोजस्मृति,' 'राम की शक्ति-पूजा,' 'तुलसीदास' (निराला); 'परिवर्तन' (पंत) जैसी लम्बी, तत्सम शब्दावली से परिपूर्ण रचनाएं देखने को मिलती हैं। प्रसाद ने तो भाषा की एकरूपता को विभिन्न विधाओं के अनुरूप ढालकर उसमें विविधता ला दी है। जहां वे 'आह रे वह अधीर यौवन' जैसी गीत-संरचना कर सके हैं; वहीं 'कामायनी' जैसा सर्जनात्मक एवं बौद्धिकता से परिपूर्ण प्रबन्ध-काव्य भी उन्हीं की देन है। छायावाद की अन्तिम कड़ी महादेवी वर्मा की काव्यभाषा की एकरसता में वैविध्य के लिए कोई स्थान नहीं है। एक ही तत्व गीतात्मकता प्रथम संकलन 'नीहार' से लेकर 'दीपशिखा' तक प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो, रचना-प्रक्रिया में उत्तरोत्तर प्रौढ़ता लाती गयी है।

महादेवी वर्मा ने अपनी वेदना और प्रेम को व्यंजित करने के लिए

जिस पद्धति का सहारा लिया, वह है प्रतीकात्मकता । उनकी रचनाओं में प्रतीकों के नियोजन पर प्रकाश डालने से पूर्व संक्षेप में प्रतीक की सामान्य स्थिति पर विचार करना अपेक्षणीय है। प्रतीक एक जातीय सम्पत्ति है, पर वह रागात्मक चेतना का अंग नहीं है,वह शुद्ध रूप से बुद्धि का व्यापार है। प्रतीक और बिम्ब में अन्तर करते हुए डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने प्रतीकों की स्पष्ट स्थिति का संकेत इस प्रकार किया है-

" प्रतीक और भावचित्र में प्राय: वैसा ही अन्तर है जैसा उपमा और रूपक में होता है। उपमा सामान्यत: एक स्थिति की ओर संकेत करती है और उसके " डिटेल्स " को मूर्तिमान नहीं करती, पर रूपक स्थिति को आरोपित करके फिर उसके विस्तृत परिवेश से युक्त करता है।"[1]

प्रतीक का अपने आपमें कोई महत्व नहीं होता, वरन् प्रतीयमान का महत्व होता है। प्रतीक और प्रतीयमान में कोई नियत सम्बन्ध नहीं होता। जैसे- `कमल ` भारत में योगसाधना का प्रतीक है; किन्तु दूसरी संस्कृति में भी हो,यह आवश्यक नहीं। भाषा मात्र ही प्रतीक संघटना है। जैसा टिकाऊ उस पर प्रभाव होता है, महत्व भी उतना ही होता है। साहित्यिक भाषा में प्रतीक का बहुत महत्व होता है,क्योंकि वह संस्कृति का वहन करती है। प्रतीक का निर्माण किसी वस्तु के कई गुणों

---

१- भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- ६६- ६७

को देखते हुए होता है। उदाहरणस्वरूप `पीपल` के पेड़ का प्रतीक-संस्कृति में स्वीकृत यह प्रतीक निरन्तरता, सनातनता का वाचक होता है, इसलिए वह सन्तान का भी प्रतीक बन जाता है; क्योंकि सन्तान के माध्यम से सृष्टि की निरन्तरता अभिलषित है। अतः प्रतीक के लिए संस्कृति आवश्यक है। सन्दर्भ से प्रतीक तक के विकास पर प्रकाश डालते हुए डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस प्रकार लिखा है-

" सन्दर्भ से प्रतीक तक का विकास निश्चय ही भाषा को समृद्ध बनाता है और अनेक कवियों की व्यक्तिगत और सामूहिक क्षमता द्वारा सम्पन्न हो पाता है। पर प्रतीक के बाद किसी शब्द-विशेष के विकास की दो स्थितियां हो सकती हैं- या तो वह प्रतीक अपनी सम्भावनाओं को और अधिक खोलता हुआ एक भावचित्र ( इमेज या इमेजरी ) के रूप में गठित हो जाता है, या फिर कवियों की असामर्थ्य और भाव-विसंपृक्त प्रयोगों के कारण वह एक कथानक- रूढ़ि ( मोटिफ ) भर बन जाता है। सन्दर्भ- प्रतीक- भावचित्र, या फिर सन्दर्भ- प्रतीक - कथानक - रूढ़ि - काव्यभाषा में शब्द- शक्ति के विकास की ये दो संभावित दिशाएं हैं।"[१]

आधुनिक हिन्दी - काव्य में शब्दों का सामान्य अर्थ सर्वत्र नहीं होता है। जब कवि समुद्र, निर्झर, मणि अथवा दीप का प्रयोग करता

---

१- भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- ६६

है, तब उसका तात्पर्य आत्मा से होता है; जहां तम कहा जाता है, वहां निराशा अथवा अज्ञान का बोध होता है। हास्य अथवा रश्मि क्रमश: आशा और ज्ञान के परिचायक हैं। इसी प्रकार पन्थी और पथिक के सम्बोधन द्वारा साधक की स्थिति का भान होता है।

महादेवी वर्मा का काव्य तो संकेतों और प्रतीकों का भण्डार ही है; जिससे उनका काव्य कहीं-कहीं दुरूह-सा हो गया है। उनके कुछ प्रतीक तो परिचित होने के कारण सहजतया समझे जा सकते हैं; किन्तु कुछ प्रतीक व्यवहार में अधिक प्रयुक्त न होने के कारण अर्थ ग्रहण कराने में बाधा उपस्थित करते हैं। बुद्धिगम्य प्रतीक इस प्रकार हैं— `तरी` का प्रयोग जीवन के लिए, `सागर` का प्रयोग संसार के लिए, `तम` का अज्ञान एवं `प्रकाश` का प्रयोग ज्ञान के लिए किया गया है। इसी प्रकार `वीणा` के तार को हृदय के भावों के लिए एवं `गायक` को साधक के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया गया है। शलभ, जो चातक और मीन की भांति आदर्श प्रेमी की कोटि में आता है; किन्तु महादेवी जी ने "शलभ" को मोहमूलक सांसारिक आकर्षण के रूप में व्यंजित किया है।

"शलभ मैं शापमय वर हूं।
किसी का दीप निष्ठुर हूं।"

महादेवी की काव्य-चेतना में `नीहार` से लेकर `दीपशिखा`

पर्यन्त कुछ प्रतीक बारम्बार प्रयोग में आते हैं। जैसे लगता है ये उनकी चेतना में घुमड़ते रहे हैं। इन प्रतीकों में एक है- दीपक या दीप। दीपक स्वयं जलता है और संसार को प्रकाश देता है। अज्ञान के अन्धकार को छांटता है, ज्ञान के आलोक का प्रसार करता है। उसका तिल-तिलकर जलना महादेवी के लिए उस जीवन का पर्याय- सा प्रतीत होता है, जो यातना में घुल- घुलकर क्षण- क्षण व्यतीत होता है। ऐसी यातना भरी घड़ियों में व्यतीत होने वाले जीवन का प्रतीक उन्हें 'दीपक' ही लगता है। 'दीपक' का आलोक उसके अन्तर्दाह का प्रतिफलन है। इसलिए महादेवी उस आत्म-ज्वाला में तिल- तिल जलने वाले दीपक को अपने जीवन के प्रतीक के रूप में चित्रित करती हैं। फिर दीपक का विसर्जन या उसका अवसान एक प्रकाशमान जीवन का विसर्जन या अवसान है। इन सारे सन्दर्भों को अपनी दृष्टि में रखते हुए ही वे इस प्रकार के प्रयोग करती हैं-

" गये तब से कितने युग बीत
हुए कितने दीपक निर्वाण।" — नीहार

यह प्रतीक उन्हें इतना प्रिय है कि इसके साथ उन्होंने तादात्म्य-सा कर लिया है-

" धूप- सा तन दीप- सी मैं।
उड़ रहा नित एक सौरभ- धूम- लेखा में बिखर तन,
खो रहा निज को अथक आलोक- सांसों में पिघल मन- "

कहीं यह प्रतीक गलने, घुलने और जलने के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है-

मोम- सा तन घुल चुका,

अब दीप-सा मन जल चुका है।"

तो कहीं जलकर आत्मदान के सन्दर्भ में व्यंजित होता है-

सौरभ फैला विपुल धूप बन,

मृदुल मोम-सा घुल रे मृदु तन;

दे प्रकाश का सिंधु अपरिमित,

तेरे जीवन का अणु गल- गल।

पुलक-पुलक मेरे दीपक जल! "— आधुनिक कवि

इस प्रतीक का उपयोग महादेवी ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थल पर अनेक रूपों में किया है। "नीहार" की "मेरा राज्य" शीर्षक कविता में एक स्थान पर उन्होंने प्राणों का दीप जलाकर दीवाली मनायी है-

अपने इस सूनेपन की

मैं हूं रानी मतवाली,

प्राणों का दीप जलाकर

करती रहती दीवाली।

तो वहीं अपने अस्तित्व को बनाए रखने का एहसास भी बरकरार है। तभी तो उपालम्भ के ये शब्द इस रूप में व्यंजित हुए हैं-

" चिन्ता क्या है, हे निर्मम !
बुझ जाये दीपक मेरा;
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा !"

इन पंक्तियों में कितनी करुणा व्यंजित होती है तथा इसमें आराध्य की निर्ममता पर एक विह्वल आघात-सा किया गया है। यहाँ 'दीपक' को आत्मा के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया गया है। 'नीहार' की ही 'निर्वाण' कविता में कवयित्री ने अपने इष्ट से आग्रह-सा किया है-

" इस असीम तम में मिलकर
मुझको पल भर सो जाने दो,
बुझ जाने दो देव ! आज
मेरा दीपक बुझ जाने दो !"

इस प्रकार प्रत्येक स्थल पर प्रतीकों का अर्थ सन्दर्भानुसार बदलता रहता है। जैसा कि विश्वम्भर 'मानव' ने लिखा है-

" ---- आकार अथवा वर्ण- साम्य पर प्रतीकों का अर्थ लगाते हुए भी प्रसंग पर बहुत- कुछ निर्भर रहना पड़ता है।"[१]

---

१- महादेवी : विश्वम्भर 'मानव '- सम्पा०- इन्द्रनाथ मदान, पृ०-१३२

' दीपक ' जिसका प्रयोग अधिकतर ' आत्मा ' के प्रतीक के रूप में हुआ है, 'रश्मि ' की ' जीवन-दीप ' कविता में ' मानव ' के प्रतीक रूप में अभिव्यक्त हुआ है-

' किन उपकरणों का दीपक,
किसका जलता है तैल ?
किसकी वर्ति, कौन करता
इसका ज्वाला से मेल ?'

मानव- जीवन के समस्त वैभव क्षणभंगुर हैं और प्रकृति के अपेक्षाकृत स्थायी । उसमें अनन्त जीवन, असीम सुषमा और चिर जीवन व्याप्त है। अपने दु:खों से घिरा हुआ मनुष्य अपनी निर्बलता देखे या प्रकृति का अपार वैभव, अपने जीवन का क्रन्दन सुने या प्रकृति का संगीत; ये उलझनें सुलझ नहीं पातीं । इस भाव की अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में हुई है-

' तेरे असीम आंगन की
देखूं जगमग दीवाली,
या इस निर्जन कोने के
बुझते दीपक को देखूं।' — रश्मि

कवयित्री की तृतीय रचना ' नीरजा ' में ' नीहार ' और 'रश्मि ' की अपेक्षा भावों की सघनता अधिक है। ' नीरजा ' महादेवी के अन्तर्गीत का भावयोग है। शुक्ल जी ने अपने निबन्ध में लिखा है,

" जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है; उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।"[1] `नीरजा` में महादेवी जी के भावों का यही रस-परिपाक निहित है।

" नीहार " और " रश्मि " तक तो कवयित्री ने अभिव्यंजना-शक्ति की कमी के कारण प्रतीकों का बहुत कम प्रयोग किया है; क्योंकि तब तक महादेवी न तो व्यक्तिगत अनुभूतियों से तटस्थ हो पायी थीं और न अभिव्यंजना में निर्वैयक्तिक। " नीहार" में कवयित्री ने एक सीमा तक स्वयं को उद्घाटित किया है। इसके गीतों जैसी मार्मिकता परवर्ती रचनाओं में अनुपलब्ध है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है-

" नीहार का काव्य उस स्थिति का है, जब भावों के पारावार से गिरा मौन हो जाती है।"[2]

महादेवी " नीहार " की अपेक्षा `रश्मि ` को अपने अधिक निकट मानती हैं, क्योंकि वह चिन्तन-प्रधान काव्य है। " रश्मि " की चिन्तन-प्रधान अनुभूति अभिव्यंजना-शक्ति के अभाव में कहीं-कहीं काव्य-रूप में नहीं ढल पायी है; किन्तु तब तक कवयित्री इस तथ्य से परिचित हो गयीं कि जिस आध्यात्मिक अनुभूति की व्यंजना उन्हें अभीष्ट थी, उसे व्यक्त करने का माध्यम प्रतीक ही हो सकेगा। " नीरजा " तक आते-आते उनकी अनुभूति एवं अभिव्यंजना-शक्ति में सामन्जस्य स्थापित हो जाता है। निम्नलिखित विचार इस तथ्य की पुष्टि कर देते हैं-

---

१- चिन्तामणि, भाग १ - 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध
२- महादेवी वर्मा : यामा- ( नीहार ), पृ०- ५७

`नीरजा` तक आते- आते उनकी अभिव्यंजना शक्ति इतनी सक्षम हो चली थी कि एक सीमा तक चिन्तन का भार उठा सके। उन्होंने अपने लिए एक सीमित भाव-क्षेत्र चुन लिया, इसमें सन्देह नहीं कि इस भाव-क्षेत्र पर उनका अच्छा अधिकार है। उनकी कल्पना एक निश्चित सीमा के भीतर उड़ाने भरती हैं। उसे अपने आकाश की लम्बाई-चौड़ाई का भी ज्ञान है और अपने डैनों की शक्ति का भी। `नीरजा` तक पहुंचकर महादेवी यह तय कर लेती हैं कि उन्हें क्या कहना है और क्या नहीं- और जितना कुछ कहना उन्होंने तय किया, उसे कहने की योग्यता भी धीरे- धीरे संचित कर ली। अनुभूति पर चिंतन को तरजीह देकर उन्होंने अपनी दार्शनिकता के अनुरूप संवेदनशीलता की सीमा निर्धारित कर दी। यही कारण है कि तीव्र संवेदनों की कवयित्री होकर भी महादेवी अपने काव्य में बिम्बों का कम और प्रतीकों का अधिक प्रयोग करती हैं।"[१]

इस सन्दर्भ में इन्द्रनाथ मदान के विचार द्रष्टव्य हैं-

महादेवी का चिन्तन जिस अनुपात से गहराता है, उसी अनुपात से उनके काव्य में प्रतीकों का अधिक प्रयोग होने लगता है।"[२]

नीरजा" की प्रस्तुत कविता में महादेवी ने " दीपक " को

---

१- महादेवी : प्रमोद वर्मा - सम्पा० परमानन्द श्रीवास्तव, पृ०-२६

२- महादेवी : इन्द्रनाथ मदान, पृ०- १०

जीवन के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया है, जिसमें उनका स्नेह-सिक्त हृदय ही 'वार्ती' का काम करता है-

" अपना जीवन- दीप मृदुतर,

वर्ती कर निज स्नेह-सिक्त उर;

फिर जो जल पावे हंस- हंसकर

हो आभा साकार ।

ओ पागल संसार ।"

कहीं- कहीं तो कवयित्री अपने हृदय- दीप को शाश्वत रूप से जलाए रखना चाहती हैं, इस भाव से कि कहीं उनके प्रियतम का पंथ अन्धकारमय न हो जाय । उपास्य की रक्षा के लिए वे भयंकर से भयंकर संताप सहने के लिए तत्पर हैं । इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने अपने मानस-दीप से मधुर- मधुर जलने का आग्रह- सा किया है-

" मधुर- मधुर मेरे दीपक जल ।

युग- युग, प्रतिदिन, प्रतिक्षण प्रतिपल,

प्रियतम का पथ आलोकित कर ।

सौरभ फैला विपुल धूप बन,

मृदुल मोम- सा घुल रे मृदु तन;

दे प्रकाश का सिंधु अपरिमित,

तेरे जीवन का अणु गल- गल ।

पुलक-पुलक मेरे दीपक जल।

सारे शीतल कोमल नूतन,

माँग रहे तुझसे ज्वाला-कण

विश्व-शलभ सिर धुन कहता 'मैं

हाय न जल पाया तुझमें मिल'।

सिहर-सिहर मेरे दीपक जल।

जलते, नभ में देख असंख्यक,

स्नेहहीन नित कितने दीपक;

जलमय सागर का उर जलता,

विद्युत ले घिरता है बादल।

विहँस-विहँस मेरे दीपक जल।"

'दीपक' महादेवी वर्मा के काव्य का एक ऐसा प्रतीक है, जो उनके आन्तरिक दाह से लेकर अन्तर के दिव्य-प्रकाश तक की नानावर्णीय छायाओं को प्रतिभासित करता है। महादेवी के व्यक्तित्व में जो एक अन्तर्दाह है, भीतर ही भीतर जलने, गलने, घुलने, मिटने का तप है, उसे भी वे 'दीपक' से ही प्रतिबिम्बित करती हैं और साथ ही जब वह अन्तर्दाह अपनी चरम-परिणति में वेदना से आनन्द बनता है, उसका भी प्रकाशन वे 'दीपक' के ही प्रतीक से करती हैं। प्रस्तुत कविता महादेवी के व्यक्तित्व के उस स्वर को व्यक्त करती है, जब दीपक का

जलना उनके लिए एक मधुर व्यापार बन जाता है; क्योंकि उनके भीतर के गहरे तमस् को आलोकित कर वह उसमें उतरने वाले प्रियतम के पथ को प्रशस्त करता है। उन्हें ऐसा लगता है कि जब वह दीपक घुलता है तो धूप का सौरभ बनकर फैलता है और उसके जीवन के अणु गल-गलकर प्रकाश का अपरिमित सिन्धु बनाते हैं। इसीलिए दीपक के जलने में उन्हें एक पुलक का अनुभव होता है। इस प्रकार वे अपने दीपक से विहंस- विहंस कर जलने की कामना करती हैं।

' नीरजा ' की इस कविता के सन्दर्भ में विजयेन्द्र स्नातक का मत इस प्रकार है-

" नीरजा " की मूल- भावना का यथार्थ परिचय देने वाली उनकी " मधुर- मधुर मेरे दीपक जल " कविता है। इस गीत में दीपक कवि के व्यक्तित्व का प्रतीक है। अपने सुकुमार- कोमल शरीर को, अपने जीवन के प्रत्येक अणु को दीपक की वर्तिका की भांति जलाती हुई कवयित्री अपने प्रियतम का पथ आलोकित करना चाहती है। अपने को मोम की भांति गलाकर आलोक फैलाने वाली दीपशिखा में विश्व- कल्याण और संसार- सेवा का जो उदात्त आदर्श दृष्टिगत होता है वह काव्य का ही नहीं, संसार का आदर्श है।"[१]

" आत्मा " और " प्रकाश " का प्रतीक " दीपक " कहीं-कहीं

---

१- महादेवी वर्मा : विजयेन्द्र स्नातक, सम्पा० शचीरानी गुर्टू, पृ०-१७२

तारावों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है-

" तम ने बोया नभ- पंथ

सुवासित हिमजल से;

सूने आंगन में दीप

जला दिये झिल- मिल से; "

यहां पर " दीप " शब्द स्वच्छ आकाश में झिलमिलाते हुए तारावों के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया गया है। जहां कहीं चिन्तन की प्रधानता हुई है, वहीं भाव में क्लिष्टता आ गयी है; विशेषकर "नीरजा " में। प्रसंगवश यह प्रतीकात्मक कविता प्रस्तुत है-

" दीपक- सा जलता अन्तस्तल,

संचित कर आंसू के बादल,

लिपटी है इसमें प्रलयानल

क्या यह दीप जलेगा तुमसे,

भर हिम का पानी

बतला जा रे अभिमानी ।"

किन्हीं- किन्हीं पंक्तियों में तो कवयित्री की करुण पुकार गुंजायमान हो उठती है। प्रियतम की एक झलक के लिए आकुल कवयित्री उनसे मलयानिल बनकर आने का आग्रह करती है-

" एक बार आवो इस पथ से

मलय- अनिल बन हे चिर चंचल ।

मृदु मम के उर में छाले से
निष्ठुर प्रहरी से पल- पल के,
शलभ न जिन पर मंडराते प्रिय ।
भस्म न बनते जो जल- जल के,
आज बुझा जाओ अम्बर के
स्नेह हीन यह दीपक झिलमिल ।'

यहां 'दीपक' को तारागों के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया गया है। महादेवी वर्मा ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए जिस प्रतीकात्मकता का सहारा लिया है, वह उनके काव्य को बोधगम्य बनाने में बाधक भी है। इस सम्बन्ध में डा० अनन्जय वर्मा के विचार इस प्रकार हैं-

" ------ लौकिक आधारों को लेकर उनकी अभिव्यक्तियां रहस्यात्मक अनुभूतियों से व्यक्त हुई हैं, लेकिन जहां छायात्मक रूपकों की परियोजना है, वहां उन पर एक आवरण है। एकत्व- आलम्बन का सम्यक् निर्वाह वहां नहीं। रूपक- वैभिन्य ने रचनाओं में एक स्पष्टता ला दी है। उनकी अस्पष्टता को लेकर यह भी कहा गया है कि जिस भावभूमि के वे आत्म-निवेदन हैं वह साधारणतः बोधगम्य नहीं, लेकिन यह कोई कारण नहीं। हमें यह मानना पड़ेगा कि यह उनके कला-पक्ष की सीमा है। प्रतीक-पद्धति के कवियों की दार्शनिक, गुह्य अनुभूतियां महादेवी से कहीं अधिक बोधगम्य हैं। उनसे अधिक सूक्ष्म अनुभूतियों को

वाणी देने में संकेतात्मक भाषा का परिष्कार ' निराला ' और ' प्रसाद ' में देखा जा सकता है। महादेवी में के भावों के संकेतात्मक रूप- चित्रों की विरलता है। भावों के भाव-चित्र ही वहां हैं। यह उनकी बहुत बड़ी सीमा है जो अदृश्य और रूप को अदृश्य और रूप ही रहने देती है। भावनाओं और अनुभूतियों की तद्वत् और विशद् अभिव्यक्ति और प्रेषण में प्रतीकों का आश्रय लिया जाता है। महादेवी के प्रतीक उनकी रहस्यात्मकता बढ़ाते हैं। ये प्रतीक कहीं- कहीं तो केवल धुंधली साम्य भावना पर ही आधारित हैं। यह भाव- अन्विति रक्षा के लिए एक आवरण अवश्य देते हैं, पर अव्यक्त एवं छायाभासी प्रतीकों के कारण पूर्णपर निर्वाह नहीं हो पाता है।"[1]

महादेवी स्वयं जलना चाहती हैं, मिट जाना चाहती हैं ; तभी तो वह अमरों के लोक को ठुकरा देती हैं और अपने मिटने के अधिकार को बचाए रखना चाहती हैं। जिस लोक में अवसाद नहीं, जलन नहीं, वेदना नहीं, ऐसा लोक उनके लिए व्यर्थ है-

" जलना जाना यहीं, नहीं-
जिसने जाना मिटने का स्वाद,
क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार

---

१- महादेवी - जगन्नाथ वर्मा : सम्पा० इन्द्रनाथ मदान, पृ०- १०१- १०२

रहने दो हे देव ! और यह

मेरा मिटने का अधिकार !"

महादेवी वर्मा की रचनाओं में इस वेदना-भाव की अभिव्यक्ति का स्वरूप प्राय: प्रतीकात्मक है। उनका यह विश्वास कि उनका आज का विषाद कभी सुख में परिवर्तित हो जायेगा, उनके इस स्वप्न से व्यक्त होता है-

जिस प्रकार जीवन के उषाकाल में मेरे सुखों का उपहास-सा करती हुई विश्व के कण-कण से एक करुणा की धारा उमड़ पड़ी है, उसी प्रकार सन्ध्या काल में जब लम्बी यात्रा से थका हुआ जीवन अपने ही भार से दबकर कातर-क्रन्दन कर उठेगा, तब विश्व के कोने-कोने में एक अज्ञात पूर्ण सुख मुस्करा उठेगा।"

यही कारण है कि वे अपने हृदय या आत्मा से मधुर-मधुर जलने का आग्रह करती हैं। जहां 'नीहार' में वे नभ की दीपावलियों से पल भर के लिए बुझ जाने का आग्रह करती हैं; क्योंकि करुणामय को तम के परदे में ही आना भाता है-

'हे नभ की दीपावलियों !

~~.........~~'

तुम पल भर को बुझ जाना,

करुणामय को भाता है,

तम के परदे में आना।"

वहीं 'नीरजा' में प्रियतम के पथ को आलोकित करने के लिए अपनी आत्मा को दीप की भांति जलाये रखना चाहती हैं-

'मधुर- मधुर मेरे दीपक जल !

युग- युग प्रतियुग, प्रतिक्षण, प्रतिपल

प्रियतम का पथ आलोकित कर ।'

यहां महादेवी जी के उच्चादर्शों की झलक भी मिलती है। प्रियतम के पथ को प्रकाशित करने के लिए वे अपने शरीर को मोम की भांति गला देना चाहती हैं। यही नहीं, वे अपने जीवन के कण- कण से ज्योति का अगाध सिन्धु बहा देना चाहती हैं जिससे क्षणिक रूप से ही नहीं, वरन् युग-युगान्तर तक उनके प्रियतम का मार्ग आलोकित रहे।

इस प्रकार महादेवी जी ने अपनी मनोभावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीकात्मक शैली का सहारा लिया। सम्भवतः महादेवी वर्मा द्वारा प्रतीकात्मक शैली अपनाने का कारण भी उनका एकाकी जीवन और संस्कारशील व्यक्तित्व ही रहा होगा। सिद्धान्ततः तो वे वैयक्तिक सुख- दुःख को काव्य का विषय बनाने का निर्णय लेती हैं, किन्तु उनका संस्कारित मन स्वयं को अभिव्यक्त करने में संकोच करता है। युगीन प्रचलित आदर्शों और सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने की क्षमता उनमें नहीं थी, क्योंकि वे नारी थीं। छायावादी कवियों में नये युग का अन्वेषण केवल निराला और पंत की रचनाओं में ही अभिव्यक्त हुआ है, प्रसाद तो सर्वत्र संयम और संकोच का निर्वाह करते रहे हैं। इस प्रकार जब प्रसाद पुरुष होकर सामाजिक शिष्टाचार और रूढ़ बन्धनों की अवहेलना नहीं कर सके,

तो महादेवी जी तो सम्भ्रान्त नारी ठहरीं। अज्ञेय के मत में तो-

" संकोच का यही भाव महादेवी को प्रतीकों का आश्रय लेने को बाध्य करता है।"[1]

महादेवी अपनी विशिष्ट अनुभूतियों का वर्णन करने के लिए जिस प्रतीक पद्धति की तलाश में थीं, वह पूर्णतया उन्हें " नीरजा " के रचना-काल में मिली। " दीपक " उनके काव्य का केन्द्रीय प्रतीक है। निष्कम्प और अकंप दीपक चिरसाधना में लीन है। साधना की पूर्णता अस्तित्व के विसर्जन में है, स्वेच्छा से दुःख का आलिंगन कर अपने आपको गलाते हुए चतुर्दिक आलोक का पुन्ज बिखेरना ही कवयित्री के निकट जीवन की सिद्धि है। इस प्रतीक की परवर्ती काव्य-संग्रहों में केवल आवृत्ति ही नहीं होती है, वरन् महादेवी ने अपनी अन्तिम कृति का नाम ही इसी के आधार पर रखा है। अपने प्रिय प्रतीक " दीपक " को लेकर उन्होंने "नीरजा " में उपासक और उपास्य के बीच अनूठे संगम का वर्णन किया है-

" नभ में उनके दीप, स्नेह

जलता है पर मेरा उनमें ;

मेरे हैं यह प्राण कहानी

पर उनकी हर कम्पन में।"

यहाँ कवयित्री ने इस भाव की व्यंजना की है कि नभ में एक का

---

[1]- अज्ञेय : हिन्दी साहित्य—एक आधुनिक परिदृश्य, पृ०- ८५

( आत्मा का ) दीप जलता है, तो इसे जीवन-दान देने का श्रेय दूसरे को ( परमात्मा को ) है ; क्योंकि वही उस दीपक को अपने स्नेह से स्निग्ध करता है। इसमें आत्मा और परमात्मा का एक- दूसरे में लीन हो जाने की व्यापक तत्परता का भी दर्शन होता है। ' नीरजा ' की यह प्रतीकात्मक शैली ' सान्ध्यगीत ' तक पहुंचते- पहुंचते अपने स्वरूप में बहुत कुछ अन्तर ला चुकी होती है। ' नीरजा ' का जलाया हुआ दीप 'सान्ध्य गीत ' को भी आलोकित करता है-

' शलभ मैं शापमय वर हूं।
किसी का दीप निष्ठुर हूं।'

कवयित्री को लगता है कि उनके भीतर की करुणा उनके जलने का ही परिणाम है। यही करुणा तो उनके जीवन को सिंचित करती है। उनके इस भाव की परिपुष्टि उनकी रचनाओं द्वारा होती है-

' दीप- सी जलती न तो
यह सजलता रहती कहां ?
रे पपीहे पी कहां ? '

यहां महादेवी जी ने स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है कि अगर वह दीपक के समान जलतीं नहीं, तो इतनी सफलता कहां से प्राप्त होती। उन्होंने इस तथ्य को समझ लिया है कि आत्मा की महानता साधना की सफलता में है और जीवन की महानता सांसारिक विपत्तियों को सहन करने में। कहीं वे स्वयं दीपक के समान जलने लगती हैं; तो कहीं

दूसरे सन्दर्भों में भी दीपक का प्रयोग करती हैं। जैसे- `सान्ध्य गीत` में उन्होंने `दीपक` को अपने दो नेत्रों के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया है-

`दृग मेरे दो दीपक झिलमिल,
भर आंसू का स्नेह रहा ढुल,
सुधि तेरी अविराम रही जल,
पद-ध्वनि पर आलोक रहूंगी वारती।`

यहां कवयित्री के दोनों नेत्र ही झिलमिलाते हुए दो दीपक हैं, जिनमें उनके आंसू का स्नेह भरा हुआ है और प्रियतम की सुधि ( स्मृति ) ही `बाती` के रूप में निरन्तर जल रही है, जिससे उनका मार्ग प्रकाशित होता रहे। इस प्रकार अपने इष्ट के लिए वे हर कष्ट सहने को तत्पर हैं। कहीं तो दीपक बनकर तिल-तिल जलते हुए उनके लिए प्रकाश बिखरने में अपनी सार्थकता समझती हैं और कहीं उन्हें स्वयं में समाहित कर लेना चाहती हैं; किन्तु तभी उन्हें अपने शापमय जीवन का बोध होता है-

`शलभ मैं शापमय वर हूं
किसी का दीप निष्ठुर हूं
-- -- --
नयन में रह किन्तु जलती
पुतलियां आगार होंगी

प्राण में कैसे बसाऊं

कठिन अग्नि- समाधि होगी ।

फिर कहां पालूं तुम्हें मैं मृत्यु- मंदिर हूं ।

महादेवी ने यहां व्यक्त किया है कि उनका जीवन दीपक के समान निरन्तर ज्वालामय हो रहा है। वे स्वयं और दीपक में समता अनुभव करती हैं। वे अपने इष्ट को नेत्रों में ही बसा लेना चाहती हैं, किन्तु उन्हें इस बात का भय भी है कि कहीं दहकती हुई पुतलियों में उनकी कोमलता झुलस न जाय। कठिन- अग्नि- समाधि के कारण वह उन्हें अपने हृदय में भी नहीं बसाना चाहतीं। इस असमंजस की स्थिति में उन्हें याद आता है कि-

" [illegible]

" हो रहे झरकर दृगों से

अग्नि-कण भी क्षार शीतल ;

पिघलते उर से निकल

निश्वास बनते धूम श्यामल;

एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूं।"

उनके हृदय की अग्नि जो नेत्रों द्वारा झर- झरकर शीतल क्षार होती जा रही है। तप्त निःश्वास भी पिघलकर श्यामल धूम बनी जा रही है। स्फुलिंग के अभाव में केवल राख ही अवशेष रहता है,जो उन्हें शीतलता प्रदान करता है। महादेवी को लगता है कि उनके प्राणों का

प्रकाश उनके अन्तर्दाह से ही है। दीपक एक ऐसा प्रतीक है जो महादेवी के जीवन का पर्याय बन जाता है तथा उनके पूरे काव्य-संसार में फैला हुवा है। इसकी अभिव्यक्ति 'नीहार' से 'दीपशिखा' तक विविध रूपों में हुई है। जहाँ 'नीहार' में कवयित्री 'दीपक' जैसे बेधड़क प्रेमी से प्रेम की रीति सीखती हैं-

'क्षार होता जाता है गात,
वेदनाओं का होता अन्त,
किन्तु करते रहते हो मौन,
प्रतीक्षा का आलोकित पंथ,
सिखा दो ना नेही की रीति
अनोखे मेरे नेही दीप।'[1]

वहीं 'सान्ध्यगीत' में स्वयं दीपक बनकर युग-युग तक जलने और प्रियतम के हाथों से बुझने की कामना करती है-

'दीप-सी युग-युग जलूं
पर वह सुभग इतना बता दे।
फूंक से उसकी बुझूं
तब क्षार ही मेरा पता दे।'[2]

'दीपशिखा' में तो महादेवी स्वयं विविध दीप-रूपों में

---

१- महादेवी वर्मा : यामा ( नीहार ), पृ०- ५३
२- -वही- ,, सान्ध्यगीत, पृ०- २३७

प्रज्ज्वलित होती है। 'दीपशिखा' उनकी अक्षय साधना का प्रतीक है। इसके अधिकांश गीत दीप-साधना के विविध स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। 'दीपशिखा' के गीतों में आत्म-विसर्जन की अभिव्यक्ति है। इन गीतों के विषय में डा० नगेन्द्र का मत उद्धरणीय है-

"एक : 'दीपशिखा' कवि के अपने मन का प्रतीक है।

दो : 'दीपशिखा' में फारसी की शमा की तरह ऐन्द्रिय वासना की दाहक ज्वाला नहीं है, वरन् करुणा की स्निग्ध लौ है; जो मधुर-मधुर जलती हुई पृथ्वी के कण-कण के लिए आलोक वितरित करती है।

तीन : और इस जलने के पीछे किसी अज्ञात प्रिय का संकेत है जो उसे असीम बल और अकम्प विश्वास प्रदान करता है।"[1]

कभी महादेवी जी अपने साधना-दीप को अनवरत जलने के लिए प्रेरित करती हैं तो कभी उच्छ्वसित तूफानी समुद्र, उमड़ती घटाएं, कौंधती बिजलियां, प्रकम्पित दिशाएं ही उनके साधना-दीप के लिए मंगल गाती हैं-

" दीप मेरे जल अकम्पित,

घुल अचंचल।

— — —

स्वर प्रकम्पित कर दिशाएं,

मीड़ सब भू की शिराएं,

---

१- महादेवी वर्मा : डा० नगेन्द्र- सम्पा० शचीरानी गुर्टू, पृ०- १६८

रही है। जिस प्रकार दीपक स्वयं जलकर अपने प्रकाश से अन्धकार दूर करते हुए संसार का मार्ग प्रशस्त करता है, उसी प्रकार महादेवी वर्मा के गीत भी विश्व- कल्याण में लगे हुए हैं। मृत्यु के पर्व को दीपोत्सव की भांति ग्रहण करते हुए, अपने अस्तित्व को समाप्त कर समष्टि के कल्याण के लिए आलोक बिखेरने में महादेवी के विश्व मंगल की भावना की पुष्टि होती है।

महादेवी वर्मा के जीवन और साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व-कल्याण की भावना उनके अन्दर कूट- कूट कर भरी हुई है। विश्व-जीवन के साथ अपने जीवन को मिला देने वाली कवयित्री सर्वव्यापी संवेदनशीलता का पर्याय- सी बन गयी है। उनकी इसी संवेदनशीलता की तरफ संकेत करते हुए श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने लिखा है-

" वास्तव में इस व्यापक संवेदनशीलता की भावना के द्वारा व्यक्ति- शेष सभी को एक ऐसे भाव-साम्य के धरातल पर लेता है, जहां सभी भेद-भाव तिरोहित हो जाते हैं और सभी शान्त, सन्तुलित कोमलता तथा व्याकुलता से सम्बद्ध होकर एक समरसता प्राप्त कर लेते हैं। कहना न होगा कि यही संवेदनशीलता महादेवी जी की सर्वोदयी करुणा का प्रेरक पूर्व- पक्ष है, जो उनके आत्मभाव, आत्म-विश्वास तथा जीवन के आशावादी संकल्प से समन्वित होकर व्यापक जीवन--लोक-मंगल का विधायक भाव बन गया है।"[1]

---

1- महीयसी महादेवी : गंगाप्रसाद पाण्डेय, पृ०- १९७

महादेवी जी के केन्द्रीय प्रतीक 'दीपक' के सन्दर्भ में 'दीपशिखा' की प्रस्तुत कविता सर्वाधिक महत्वपूर्ण है; जहां शंख-घड़ियाल, वंशी-वीणा के स्वर मंद पड़ जाने, आरती-बेला के समाप्त होने, धूप-अर्घ्य-नैवेद्य आदि के धूम रूप में परिणत हो जाने पर भयंकर झंझावात में भी 'ज्योति का यह लघु प्रहरी' पुजारी बनकर जागता है-

' यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो ।
रजत शंख-घड़ियाल स्वर्ण वंशी-वीणा-स्वर,
गये आरती वेला को शत-शत लय से भर,
जब था कल कंठों का मेला;
विहंसे उपल तिमिर था खेला,
अब मंदिर में इष्ट अकेला
इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो ।'

यहां मन्दिर में निष्कम्प एवं निरन्तर जलते हुए दीपक का चित्रांकन हुआ है । मंदिर में पूजा-काल की समाप्ति पर जब शंख-घड़ियाल की ध्वनि बन्द हो जाती है, वीणा और वंशी रव जब मंद पड़ जाते हैं, पूजा के निमित्त पहुंचा हुआ जनसमूह जब लौट चुका होता है, तो उस समय केवल यह जलता हुआ दीप ही अकेला रह जाता है जो आंगन के शून्य ( नीरवता ) के विनष्ट करने के लिए प्रतिपल गलता रहता है । पूजा के बाद मंदिर की देहली पर अर्चनार्थियों के पग-चिह्न एवं बिखरे हुए पुष्प, अक्षत ही शेष रह जाते हैं, धूप-अर्घ्य-नैवेद्य आदि जलकर भस्म हो जाते हैं; किन्तु जो पूजा की सारी कथाएं इस दीपक की

जलती हुई लौ में अन्तर्हित होती है-

`सबकी अर्चित कथा, इसी लौ में पलने दो।`

आगे की पंक्तियों में कवयित्री दीपक को `सान्ध्य का दूत` कहती है-

`झंझा है दिग्भ्रान्त, रात की मूर्च्छा गहरी
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी ,
जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
रेखाओं में भर आभा- जल
दूत सांझ का इसे प्रभाती तक चलने दो।`

तात्पर्य यह कि भयंकर झंझावात और रात्रिकालीन गहराती मूर्च्छा के समय भी ज्योति का यह प्रहरी अपने कर्तव्य-पथ पर अग्रसर रहता है तथा दिन की चहल- पहल आरम्भ होने तक यह प्रतिपल जागता रहता है ( जलता रहता है )। इस प्रकार सान्ध्य का यह दूत रात्रि के पथ को अविचल रूप से पारकर प्रभात की मंजिल तक की यात्रा तय करता है।

महादेवी वर्मा ने स्वयं और दीपक के गुणों में समानता का अनुभव किया। अतः उनकी रचनाओं में दीपक स्वयं की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए निम्नलिखित वक्तव्य प्रस्तुत है-

साधक आत्मा का पूर्ण स्वरूप जैसा दीपक के प्रतीक द्वारा

अभिव्यक्त होता है, वैसा शलभ, चातक, चकोर, कमल, कुमुदिनी, मछली आदि से नहीं। रहस्यवादी काव्य में तो और नहीं। दीपक स्नेह ( तैल ) और साधक स्नेह ( प्रेम ) में अंधेरी रात ( विरह-वेदना-तिमिर-आवृत ) भर जलता रहता है। दोनों ही जलकर अन्धकार ( अज्ञान-माया ) को नष्ट कर पथ आलोकित करते रहते हैं। दीपक से दीपक जलता है और साधक अन्य साधकों में विरह चिनगारी जलाता है। दोनों ही तिल-तिल जलकर अंशी सूर्य और परमात्मा के निकट पहुंचते हैं। दीपक की ज्योति अपने अंशी ज्योति के अनन्त सूर्य और पिण्ड में साधक की आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। दीपक लौ जलाए रहता है, साधक लौ लगाए रहता है। स्नेह, लौ और ज्वाला ने श्लेष द्वारा दीपक को साधक का सच्चा प्रतीक बना दिया है।"[1]

: :

जो दूसरा प्रतीक महादेवी जी की चेतना में बहुत गहरे बैठा हुआ है- वह वीणा है। वीणा के माध्यम से महादेवी जी ने अपने जीवन के तारों की झनझनाहट को, संवेदनशील अस्तित्व को रूपायित किया है। जिस प्रकार सोये हुए वीणा के तार निस्पन्द पड़े रहते हैं, किन्तु जब किसी की अंगुलियों द्वारा छेड़ दिये जाते हैं तो उनसे सातों स्वर और नौ रसों की झंकार सुनी जा सकती है। उसी प्रकार महादेवी जी

---

१- महादेवी : जगन्नाथ 'नलिन' - सम्पा० इन्द्रनाथ मदान, पृ०-१९०

का अस्तित्व भी यों तो शान्त दिखता है, किन्तु जब प्राणों के तार छेड़ दिये जाते हैं तो न जाने कैसी- कैसी करुण राग-रागिनियाँ उनसे फूटने लगती हैं। ये सोये हुए तार मानो प्रतिक्षण किसी के द्वारा छेड़ दिये जाने की प्रतीक्षा करते हों ।

महादेवी वर्मा ने " वीणा " को अपनी रचनाओं में प्रतीक-रूप में प्रयुक्त किया है। वे इसे कहीं व्यक्तिगत जीवन और कहीं हृदय के प्रतीक के रूप में व्यंजित करती हैं। " नीहार " की प्रथम कविता ही " वीणा " के माध्यम से कवयित्री की वेदनानुभूति को अभिव्यक्त करती है-

" नहीं अब गाया जाता देव !
थकी अंगुली, हैं ढीले तार
विश्ववीणा में अपनी आज
मिला लो यह अस्फुट झंकार।"

यहां पर कवयित्री ने स्वयं को " वीणा " के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया है, जिसके तार बजते- बजते अब शिथिल पड़ चुके हैं और बजाते- बजाते साधिका की उंगलियां भी थक गयी हैं। अतः कवयित्री अपनी जीवन रूपी वीणा को विश्व- वीणा में मिला लेने की इच्छा व्यक्त करती है, क्योंकि उनकी वेदना व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत है; और जो सम्यक् रूप से कवयित्री की विराट संवेदनशीलता की द्योतक है। इस सन्दर्भ की तरफ संकेत करते हुए श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने लिखा है-

" वस्तुतः महादेवी जी की वेदना जीवन की अखण्ड एवं समष्टि

भावसाधना का व्यक्तिगत सोपान है।"[1]

इस प्रकार विश्व-जीवन की अभिव्यक्ति देने वाली `वीणा` कहीं वेदना की ` वीणा ` बन जाती है जिस पर शून्य रूपी वादक नीरव राग की निःसृति करता है-

" वेदना की वीणा पर देव !
शून्य गाता हो नीरव राग,
मिलाकर निश्वासों के तार
गूंथती हो जब तारे रात," — नीहार

जिस प्रकार विश्व- वीणा के तारों में आनन्द का मधुर स्वर एवं विरह का करुणा- क्रन्दन, दोनों ही सन्निहित है, उसी प्रकार कवि का हृदय भी आनन्द की मधुरता एवं विरह के क्रन्दन से युक्त होता है। अतः सामान्य रूप से हृतंत्री एवं वीणा के स्वर एक- दूसरे से मेल खाते हैं। यद्यपि आनन्द की मधुरता एवं विरह की आकुलता- दोनों अलग- अलग स्वरों से अभिव्यक्त होती है, किन्तु उनका लय अन्ततः एक ही अनन्त में होता है-

" हाथ में लेकर जर्जर- बीन
इन्हीं बिखरे तारों को जोड़
लिए जैसे पीड़ा का भार
देव ! आऊं, अनन्त की ओर ? " —नीहार

---

१- महीयसी महादेवी : श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय, पृ०- १७६

इसमें कवयित्री अनन्त से मिलने में अपनी असमर्थता व्यक्त करती हैं, क्योंकि उनके जीवन रूपी जर्जर वीणा के तार बिखर चुके हैं। अतः वे उसमें सन्निहित पीड़ा ( वेदना ) के भार को वहन करने में स्वयं को असमर्थ पाती हैं।

" नीहार " की ही एक कविता में कवयित्री ने इस भाव की अभिव्यक्ति दी है कि जिसने उनके जीवन के सुख- दुःख रूपी बिखरे तत्वों को एकत्रित किया, वही अब सुख के स्वप्नों की आशा दिखाकर गाने के लिए प्रेरित करता है-

" मेरी बिखरी वीणा के
एकत्रित कर तारों को,
टूटे सुख के सपने दे
अब कहते हैं गाने को।"

इसमें " वीणा " को जीवन के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया गया है। कहीं गाने की प्रेरणा देने वाले प्रियतम के प्रति उलाहना भरे शब्द कहने वाली कवयित्री के प्राणों का तार- तार उसी प्रियतम के आगमन की कल्पना- मात्र से झंकृत हो उठता है-

" कितनी करुणा, कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग ;
गाता प्राणों का तार- तार
अनुराग भरा उन्माद राग ;"

" नीहार " की ही भांति " रश्मि " भी महादेवी वर्मा का

वेदना- प्रधान काव्य है। उनकी रचनाएं उनके जीवन में किसी के अभाव एवं हृदय की विकल अनुभूतियों को प्रदर्शित करती हैं तथा उनमें साधिका का अपने आराध्य से मिलन की उत्कट आकांक्षा भी अभिव्यक्त होती है। इस मिलन की चाह में साधिका के हृदय के तार झंकृत होते रहते हैं-

" चाह की मृदु अंगुलियों ने छू हृदय के तार।
जो तुम्हीं ने छेड़ दी मैं हूं वही झंकार ।।"

यहां कवयित्री स्वयं को आराध्य द्वारा छेड़ी हुई झंकृति के रूप में प्रस्तुत करती है, जिसने अपनी चाह की मृदुल उंगलियों से साधिका के हृदय-वीन के तारों को छेड़ दिया। यहां " हृदय के तार " को "वीणा के तार " के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

" रश्मि " की " गीत " शीर्षक कविता में कवयित्री ने "वीणा" को जीवन का प्रतीक माना है, जिसमें से वादक अपनी इच्छा के अनुसार मधुर स्वर की सृष्टि करता है। यह अज्ञात वादक हमारे अनजाने ही कितनी ही बार आकर इस वीणा से कभी बेसुरी और कभी मधुर स्वर की झंकृति कर जाता है, जो कभी विश्व- संगीत में मिलकर हमें उससे एक कर देती है और कभी बेसुरी होकर अलग-

" क्यों इन तारों को उलझाते ?
अनजाने ही प्राणों में क्यों
आ- आकर फिर जाते ?
पल में रागों को झंकृत कर,
फिर विराम का अस्फुट स्वर भर,

मेरी लघु जीवन-वीणा पर
क्या यह अस्फुट गाते ?"

इस प्रकार कवयित्री कहीं "वीणा" को जीवन का प्रतीक मानती हैं तो कहीं अपने जीवन के अस्तित्व को बीते हुए युगों में ढूंढने का प्रयास करती हैं। उन्हें अपने अस्तित्व का बोध ही नहीं है वरन् वह तो ओस की बूंद की तरह मोती-सा मृदुल शरीर धारण कर अज्ञात रूप से विश्व-शतदल पर ढुलक गयी हैं। अत: वे अपना परिचय भला कैसे दे सकती हैं ? किन्तु उन्हें अपने जीवन से सम्बन्धित एक बात का स्मरण है कि-

" किसी निर्मम कर का आघात
छेड़ता जब वीणा के तार,
अनिल से चल पंखों के साथ
दूर जो उड़ जाती झंकार।"

किसी के निर्मम हाथों के आघात ने उनके हृदय के तारों ( भावनाओं ) को झंकृत कर दिया, किन्तु हृदय की वह झंकार भी वायु के झोंकों के साथ दूर उड़ गयी अर्थात् क्षण-मात्र में विनष्ट हो गयी। इस प्रकार उनका पूरा जीवन ही विरह की सघन रात्रि के साये में व्यतीत हुआ। कुछ इसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति होती है "रश्मि" की इस कविता में-

" तुम्हें रचते अभिनव संगीत,
कभी मेरे गायक इस पार ;

तुम्हीं ने कर निर्मम आघात
छेड़ दी यह बेसुध झंकार—
और उलझा डाले सब तार ।"

इसमें कवयित्री अपने आराध्य से कहती हैं कि कभी तो वह अभिनव संगीत की सृष्टि करता है और कभी अपने हाथों के निर्मम आघात से बेसुध कर देने वाली संगीत की निःसृति करता है। इस प्रकार "वीणा" के तारों को उलझा डालता है। "वीणा" द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति देने वाली कवयित्री कभी-कभी वीणा और रागिनी दोनों बन जाती हैं-

"बीन भी हूं मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं।"

सन्त-वाणियों में जो अनुभूत सत्य बार-बार प्रतिध्वनित होता आ रहा है कि आत्मा और परमात्मा की कोई पृथक् सत्ता नहीं है; इसी भाव की पुष्टि इस पंक्ति में हुई है तथा इस प्रकार की शब्दावली उनकी आध्यात्मिक चेतना को प्रकट करती है। कभी-कभी तो इससे साधिका के शरीर और हृदय के साथ ही जगत् का अर्थ भी व्यक्त होने लगता है, जब वे कहती हैं-

" इस आकुल़नी वीणा पर
गा लेने दो क्षण भर गायक ।
पल भर ही गाया चातक ने
रोम-रोम में प्यास प्यास भर ;

कांप उठा आकुल-सा जग जग

सिहर उठा तारोंमय अम्बर;

मर आया घन का उर गायक।

गा लेने दो क्षण भर गायक।" — नीरजा

इसमें कवयित्री अपने आराध्य से क्षण भर गा लेने का आदेश मांगती हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि जिस प्रकार इस वीणा पर क्षण भर ही गाकर चातक ने अपने प्रिय बादल का हृदय जीत लिया और बादल अपने साधक की प्यास बुझाने के लिए आकाश में उमड़ कर बरस गया। उसी प्रकार शायद उनका आराध्य भी इस वीणा पर क्षण भर गा लेने पर उनकी साधना को सफल बनाने आ पहुंचे। 'सान्ध्यगीत' में भी समस्त सृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए 'वीणा' को प्रतीक-रूप में ग्रहण किया गया है-

" तन्द्रिल निशीथ में ले आये

गायक तुम अपनी अमर बीन।

प्राणों में भरने स्वर नवीन।

तममय तुषारमय कोने में

छेड़ा जब दीपक-राग एक

प्राणों-प्राणों के मंदिर में

जल उठे बुझे दीपक अनेक

तेरे गीतों के पंखों पर, उड़ चले विश्व के स्वप्न दीन।"

इसमें कवयित्री अपने आराध्य से कहती हैं कि तुम इस तन्द्रिल

अर्द्धरात्रि के समय अपनी अमर वीणा लेकर मेरे प्राणों में नवीन स्वर भरने की आकांक्षा से आए हुए हो ? तुमने जब अपनी इस वीणा पर दीपक राग का स्वर छेड़ा तो प्राणों- प्राणों के मंदिर के बुझे हुए दीपक जल उठे ( ऐसा माना जाता है कि दीपक- राग के आह्वान से बुझे हुए दीप जल उठते हैं ) प्राणों- प्राणों के मंदिर के बुझे हुए दीपक को प्रकाशित करने की यह अदम्य लालसा एवं लगन के पीछे कवयित्री के व्यक्तिगत विषाद का प्रकटीकरण न होकर विषाद की विश्व-व्यापी अनुभूति का भाव व्यंजित होता है। तभी तो महादेवी अपनी जीवन-वीणा में राग के विभिन्न स्वरों के रूप में धरा के समस्त संगीत को स्वयं में समाहित कर लेने के लिए आतुर हैं-

" धूलि की इस वीण पर,

मैं तार हर तृण का मिला हूं।" —

" दीपशिखा " की एक कविता में " वीणा " को प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हुए कवयित्री ने अपने आराध्य के उस संगीत को ही, जो उनके व्यक्तित्व की वीणा पर बज रहा है, बेसुरा बताया है-

" तुम्हारी बीन ही में बज रहे हैं बेसुरे सब तार।

मेरी सांस में आरोह,

उर अवरोह का संचार,

प्राणों में रही घिर घूमती चिर मूर्च्छना सुकुमार।

चितवन ज्वलित दीपक- गान,

दृग में सजल मेघ - मलार,

अभिनव मधुर उज्ज्वल स्वप्न शत- शत राग के शृंगार ।

सम हर निमिष, प्रति पग ताल,

जीवन अमर स्वर- विस्तार,

मिटती लहरियों ने रच दिये कितने अमिट संसार ।

तुम अपनी मिला लो बीन,

भर लो उंगलियों में प्यार,

घुलकर करुण लय में तरल विद्युत की बहे झंकार ।"

क्योंकि कवयित्री का व्यक्तित्व एक त्रासद जीवन जी रहा है । इसलिए उससे बजने वाली वीणा संगीत के माधुर्य के स्थान पर एक बेसुरेपन की सृष्टि कर रही है । वे व्यंजित करना चाहती हैं कि उनका जीवन एक त्रासदी है जिसमें प्रियतम का मधुर- संगीत भी विडम्बनापूर्ण होकर एक करुण अभिव्यक्ति बन जाता है । बीन के सारे तार बेसुरे हो जाते हैं, उनकी सांसों में आरोह और हृदय में अवरोह का संचार होने लगता है । चितवन में दीपक- राग की ज्वाला जलने लगती है । आंखों में सजल मेघ- मल्हार गूंजने लगता है । ये सारी स्थितियां उसी करुण परिणति की ओर इशारा करती हैं । कवयित्री कहती हैं कि ये संगीत की मिटती हुई लहरियां कितने अमिट संसारों की रचना करती हैं । वे अपने आराध्य से प्रार्थना करती हैं कि वह फिर से अपनी इस वीणा के तारों को कसा ले, उंगलियों में नये सिरे से प्यार भर ले, ताकि तरल विद्युत की झंकार घुलकर करुण लय में ढल जाये ।

महादेवी वर्मा के सर्वाधिक प्रिय प्रतीकों में 'दीपक' के साथ 'बादल' का नाम भी आता है। जिस प्रकार 'दीपक' स्वयं को जलाकर दूसरों का मार्ग आलोकित करता है, उसी प्रकार 'बादल' भी अपने अस्तित्व को मिटाकर संसार का कल्याण करते हैं। एक तरह से 'बादल' कवयित्री के सम्पूर्ण काव्याकाश पर छाए हुए हैं। 'बादल' से कवयित्री इस तरह जुड़ी हुई है कि 'नीरजा' की एक कविता में वह अपने आराध्य से 'बादल' का स्वरूप पाने के लिए वरदान माँगती हैं, जो उनकी करुणा एवं सर्वात्म त्याग की भावना को चरितार्थ करता है-

'घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !
जलधि- मानस से नव जन्म पा
सुभग तेरे ही दृग-व्योम में,
सजल श्यामल मंथर मूक- सा
तरल अश्रु- विनिर्मित गात ले,
नित घिरूँ झर - झर मिटूँ प्रिय !
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय ! — नीरजा

इसमें कवयित्री नित घिरकर अपनी करुणा के आँसुओं की बरसात कर संसार को अपने स्नेह- जल से सिक्त कर देना चाहती हैं। वस्तुतः कवयित्री का संवेदनशील मन अपनी रचना में ऐसे प्रतीकों की खोज करता रहता है, जो स्वतः मिटकर लोक- कल्याण में लगे हुए हैं। दुःख और निराशा, त्याग और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति महादेवी जी अपने अभाव में भी किसी प्रकार संतप्त नहीं दिखती हैं, वरन् आत्म-

बलिदान के लिए सर्वदा उत्सुक रहती हैं। इसीलिए ताप- दुःख से संतप्त संसार को सुखी बनाने के लिए वे स्वतः बादल की भाँति नित्य घिर- घिरकर मिटने और बरसने की अभिलाषा रखती हैं। उनकी वेदना विश्वव्यापी वेदना से संयुक्त होकर उसका उदात्ततम स्वरूप प्रस्तुत करती है। बादल का स्वयं मिटकर तप्त-धरा को रससिक्त करने का गुण ही कवयित्री को उससे ( बादल से ) जोड़ता है। कभी - कभी तो कवयित्री के हृदय की तप्त उच्छ्वासें ही उनके तृषित जीवनाकाश में `बादल` बनकर घिर जाती हैं-

> `तृषित जीवन में घिरे घन-
>
> बन, उड़े जो श्वास उर से,
>
> पलक-सीपी में हुए मुक्ता
>
> सुकोमल और बरसे ;
>
> मिट रहे नित धूलि में
>
> तू गूँथ इनका हार है।` — नीरजा

वही तप्त निश्वासें पलकों की सीपी में मुक्ता बनकर निवास करती हैं, किन्तु यदि कभी पिघलकर बरस गयीं तो धूलि में मिलकर विनष्ट भी हो जाती हैं ; अतः कवयित्री उन मोतियों का हार बना लेना चाहती हैं जिससे वे विनष्ट न होने पायें। इस प्रकार कवयित्री अपनी आंसुओं के स्नेह-सिक्त मोतियों से सुखों का हार बना लेना चाहती हैं ताकि उनकी वेदना विनष्ट न होकर दूसरों के लिए सुख का हार बन जाये। कहीं तो वे स्वयं `सजल दुःख की बदली` बन जाती हैं, जिसका

एक ही प्रयोजन है आंसुओं को नेत्रों में संजोये रखना और कभी विस्तृत नभ-मण्डल में घुमड़-घुमड़ कर चिर-संचित रस-कोष की वृष्टि कर देना-

' मैं नीर भरी दुःख की बदली ।

-- -- --

विस्तृत नभ का कोई कोना

मेरा न कभी अपना होना,

परिचय इतना इतिहास यही

उमड़ी कल थी मिट आज चली ।' -- सान्ध्य गीत

यहां कवयित्री बादल की भांति अपने जीवन को शाश्वत नहीं मानतीं। जिस प्रकार बदली सघन से सघनतर होती हुई नभ-मण्डल को आच्छादित कर लेती है, और अपने अस्तित्व में समाहित रसकोष (जल) की वृष्टि करने के लिए प्रतिपल उतावली रहती है, क्योंकि यही उसकी एकमात्र कार्य-सिद्धि होती है। उसी प्रकार कवयित्री भी करुणा के जल से पूर्ण अपनी वेदना की बदली को दुःख से तप्त संसार के प्राणियों के सुख के लिए बरसा देना चाहती हैं। इसी प्रकार अपनी वेदना को विश्व-वेदना में मिला देने के लिए व्याकुल कवयित्री की अन्तश्चेतना में नव-जीवन की चाह भी घुमड़ती रहती है-

' रज-कण पर जल-कण हो बरसी

नव जीवन-अंकुर बन निकली ।'

अपने अस्तित्व के समापन पर नव-जीवन की बलवती आशा ही

कवयित्री को मिटने के लिए प्रतिपल उत्प्रेरित करती रहती है। इस प्रकार कहीं स्वयं को `दुःख की बदली` कहने वाली कवयित्री अपने आराध्य को ही `चिर घन` के रूप में देखती हैं और स्वयं बादल के अस्तित्व में छिपी हुई बिजली बन जाती हैं-

" श्वास में मुझको छिपाकर,
वह असीम विशाल चिर घन,
शून्य में जब छा गया
उसकी सजीली साध- सा बन,
छिप कहाँ उसमें सकी
बुझ - बुझ जली चल दामिनी मैं ? "
— सान्ध्य गीत

अपने आराध्य के अस्तित्व में छिपी हुई भी साधिका उसमें समाहित नहीं हो पाती है; क्योंकि चिरघन के रूप में जब उनका आराध्य शून्य में छा जाता है तो उसके अस्तित्व के भीतर ही निहित बिजली के रूप में साधिका - बुझती - जलती हुई स्वयं को छिपा नहीं पाती हैं ।

वस्तुतः महादेवी जी के काव्य का केन्द्रीय तत्व करुणा है, जो संसार के समस्त जीवों के प्रति स्नेह, सहानुभूति एवं सद्भाव से ओत-प्रोत है। उनकी यह करुणा विश्वव्यापी वेदना का सक्रिय स्वरूप बनकर उनकी रचनाओं में उतर गयी है। तभी तो दीपक, बादल आदि के प्रतीक द्वारा कवयित्री ने अपने निष्काम कर्मयोग की उद्भावना की है।

संवेदनशील कवयित्री जिस प्रकार संसार की पीड़ा को देखकर दुःख-कातर एवं भाव-विभोर हो उठती है ; उसी प्रकार बादल भी संसार को कष्ट में देखकर उसे स्निग्ध एवं शीतल करने के लिए व्यग्र हो उठते हैं-

" कहाँ से आए बादल काले ?

कजरारे मतवाले !

शूल भरा जग, धूल भरा नभ,

झुलसी देख दिशाएं निष्प्रभ,

सागर में क्या सो न सके यह,

करुणा के रखवाले ?

आँसू का तन, विद्युत का मन,

प्राणों में वरदानों का प्रण,

धीर पदों से छोड़ चले घर

दुःख पाथेय संभाले !" — दीपशिखा

महादेवी जी की आकांक्षा और प्रार्थना अपनी पीड़ा के परिहार के लिए नहीं, अपितु संसार के दुःखों को दूरकर उन्हें सुख प्रदान करने के लिए हुई है। ग्रीष्म के ताप से पृथ्वी को तप्त होते हुए, आकाश को धूल से भरते एवं दिशाओं को झुलसते देखकर 'बादल' का करुणापूर्ण हृदय द्रवित हो उठता है। अतः वे अपने निवास-स्थल सागर को छोड़कर संसार के प्राणियों की रक्षा के लिए जल-वृष्टि हेतु आकाश-मण्डल में आ जाते हैं। इस प्रकार करुणा के रखवाले इन बादलों का अन्त भी अमरता में परिणत हो जाता है-

"मिट चली घटा अधीर !
प्यासे का जान ग्राम, झुलसे का पूछ नाम,
धरती के चरणों पर, नभ के धर शत प्रणाम,
गल गया तुषार-भार बनकर वह छवि-शरीर !
रूपों के जग अनन्त, रंग-रूप के चिर वसन्त,
बनकर साकार हुआ, तेरा वह अमर अन्त,
भू का निर्माण हुई तेरी वह करुण पीर
घुल गयी घटा अधीर !" — दीपशिखा

इसमें कवयित्री घटाओं की करुणार्द्रता को वाणी देती है- ये घटाएं आतप से संतप्त, प्यासे और धूप से झुलसते हुए प्राणियों पर अपनी करुणा की वर्षा करती हैं। इस प्रकार बादलों का छविमान शरीर बूंदों के रूप में गल-गलकर जल बन जाता है। अन्ततः घटा अनन्त संसार के कुसुमन और रसरंग के वसन्त के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार घटा का अमर अन्त साकार हो जाता है और उसकी करुणा पृथ्वी के निर्माण का कारण बनती है। इसमें करुणाकी महत्ता का प्रतिपादन हुआ है। जिस प्रकार करुणा के वाहक ये बादल अपनी पीड़ा को धरती का निर्माण बना देते हैं, उसी प्रकार कवयित्री भी स्वयं मिटकर अपनी करुणा को अखिल विश्व के कल्याण रूप में बिखेर देना चाहती है। इस प्रकार बादलों से कवयित्री का पूर्ण-तादात्म्य है। कुछ इसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति होती है कवयित्री की इन पंक्तियों में-

" मेघ-सी घिर झर चली मैं।

— — —

बिखरना वरदान कर

विश्वास है निर्वाण मेरी,

शून्य में झंझा- विकल

विद्युत हुई पहचान मेरी।

वेदना पाई धरोहर

अश्रु की निधि धर चली मैं।"

—(दीपशिखा)

यहां कवयित्री बादलों की भांति सम्पूर्ण विश्व में बिखर जाने में ही अपना वरदान मानती हैं, उनकी प्रत्येक सांस ही उनका निर्वाण है, शून्य में कांपती हुई बिजली ही उनकी पहचान है, वेदना उन्हें धरोहर के रूप में मिली हुई है और अश्रु (जल) ही जीवन-निधि के रूप में धारण किए हुए हैं। बादलों की ही तरह कवयित्री भी अपने अस्तित्व के मिट जाने की परवाह नहीं करती, वरन् इसमें तो उन्हें सुख की अनुभूति होती है-

" भीति क्या यदि मिट चली

नभ से ज्वलित पग की निशानी,

प्राण में मृदु के हरी है,

पर सजल मेरी कहानी।

प्रश्न जीवन के स्वयं मिट

आज उत्तर कर चली मैं।" — दीपशिखा

बादलों के रूप- रंग में अन्तर भले ही आ जाए, उनका अस्तित्व आकाश-मण्डल से पूर्णतः समाप्त हो जाए; किन्तु अपने इस आत्मोत्सर्ग द्वारा वे पृथ्वी को हरा- भरा ( फसलों के रूप में ) बना जाते हैं। उसी प्रकार कवयित्री की करुणा की कहानी पृथ्वी पर गूंजती रहेगी। घटा की ही तरह कवयित्री का उत्सर्ग भी संसार को सुखी बना जाता है। इस प्रकार उनका स्वयं मिटकर विश्व को सुखी बना जाना ही सब प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है। उनकी इस विश्वव्यापी चेतना के सन्दर्भ में श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय का विचार उल्लेखनीय है-

" वास्तव में इस व्यापक संवेदनशीलता की भावना के द्वारा व्यक्ति शेष सभी को एक ऐसे भाव-साम्य के धरातल पर प्रतिष्ठित कर लेता है, जहां सभी भेदभाव तिरोहित हो जाते हैं और सभी शांत, संतुलित कोमलता तथा दयालुता से सम्बद्ध होकर एक समरसता प्राप्त कर लेते हैं। कहना न होगा कि यही संवेदनशीलता महादेवी जी की सर्वोदयी करुणा का प्रेरक पूर्व-पक्ष है, जो उनके आत्मभाव, आत्म-विश्वास तथा जीवन के आशावादी संकल्प से समन्वित होकर व्यापक जीवन- लोक-मंगल का विधायक भाव बन गया है।"[1]

: :

" दीपक " और " बादल " की भांति " सागर " भी प्रतीक रूप

---

१- महीयसी महादेवी : गंगाप्रसाद पाण्डेय, पृ०- १६७

में महादेवी वर्मा की रचनाओं में प्रयुक्त होकर विभिन्न अर्थ-सन्दर्भों को व्यंजित करता है। ` सागर ` को सामान्यत: संसार के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया गया है। दु:ख - द्वन्द्व से परिपूर्ण संसार के प्रतीक के लिए गर्जना करते हुए सागर को चुना गया है-

` गरजता सागर तम है घोर
घटा घिर आयी सूना तीर,
अंधेरी-सी रजनी में पार
बुलाते हो कैसे बेपीर ? ` — नीहार

जहां कहीं ` सागर ` का प्रयोग पथ के रूप में किया गया है, `तरिणी ` प्राण बन जाती है, जहां यह पथ ` तिमिर ` बनता है, कवयित्री के प्राण ` दीप ` बनकर आते हैं, जहां वह ` मंदिर ` बनता है, वे ` पुजारी ` बनकर आते हैं। इस प्रकार पथ के साथ कवयित्री के प्राण का रिश्ता जुड़ा हुआ है और इस रिश्ते की झलक उनके सम्पूर्ण काव्य-संसार में मिलती है। इस सन्दर्भ में श्री विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का मत उल्लेखनीय है-

` महादेवी की कविता जिस नारी की आत्माभिव्यक्ति है, उसके लिए जीवन एक ` पथ ` है- एक अनवरत ` साधना `। इस पथ पर उसके पग अग्रसर हैं और उसके प्राण साधनारत। महादेवी के सम्पूर्ण काव्य में यात्रा और साधना की यह मन:स्थिति भीनी हुई है। उनकी कविता की लगभग सारी शब्दावली इसी ` यात्रा ` और `साधना

की शब्दावली है। यह यात्रा कहीं मिलन की यात्रा है, कहीं विरह की; कहीं जीवन और मृत्यु की ; कहीं अज्ञात और रहस्य की ।"[1]

इस प्रकार महादेवी वर्मा की रचनाओं में ये प्रतीक विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न अर्थ-छवियों के साथ उपस्थित होते हैं। संसार का प्रतीक " सागर " कहीं- कहीं परमात्मा (आराध्य ) के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया गया है-

" सिन्धु को क्या परिचय दें देव ।
बिगड़ते बनते वीचि- विलास ;
क्षुद्र हैं मेरे बुद्बुद प्राण
तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश।" — रश्मि

जिस प्रकार समुद्र में उठती -गिरती लहरें समुद्र को अपना परिचय नहीं देतीं, क्योंकि समुद्र से ही उनकी उत्पत्ति होती है और उसी में विनाश भी; इसी प्रकार आत्मा का उद्भव स्थान परमात्मा ही है और अन्त में आत्मा परमात्मा में ही विलीन हो जाती है। इस प्रकार प्रियतम से अलग साधिका अपना कोई अस्तित्व नहीं समझती, वरन् स्वयं को वह उसका अभिन्न समझती है। यह अनुभूति कवयित्री को अपना परिचय देने की आवश्यकता नहीं समझने देती। कबीर और जायसी की भाँति महादेवी वर्मा की रहस्यानुभूति भी लौकिक प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त हुई है। वे भी स्वयं अपने आराध्य की

---

१- महादेवी : सम्पा० परमानन्द श्रीवास्तव,- विश्वनाथप्रसाद तिवारी, पृ०- ७१

विरहिणी मानती है। 'रश्मि' की ही एक कविता में कवयित्री ने आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध समुद्र और लहर के प्रतीक द्वारा व्यंजित किया है-

" तुम अनन्त जलराशि, उर्मि मैं
चंचल-सी अवदात,
अनिल निपीड़ित जा गिरती जो
फूलों पर अज्ञात।"

जिस प्रकार अनन्त सागर की चंचल लहरें कभी अनजाने में वायु के झोंकों से पीड़ित होकर किनारों पर जा गिरती हैं, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म रूपी अनन्त जलराशि की एक लहर है जो कर्म के वशीभूत हो संसार के किनारे पर जा लगता है। आत्मा और परमात्मा के इस अभिन्न सम्बन्ध के सन्दर्भ में डा० इन्द्रनाथ मदान का मत इस प्रकार है-

" चित्र का रेखाओं से, राग का स्वर से, असीम का सीमा से और काया का छाया से जो सम्बन्ध है, वही आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध है। फिर परिचय देना व्यर्थ है। जब इस स्थिति का अनुभव हो जाता है, तब व्यथा न जाने कहां चली जाती है, नयन श्रवणमय और श्रवण नयनमय हो जाते हैं। रोम-रोम में एक नया स्पन्दन होने लगता है और छाले प्रसन्नता के फूल बन जाते हैं। सीमा असीम में मिट जाती है और असीम सीमा में बंध जाता है।"[१]

---

[१] महादेवी : सम्पा० इन्द्रनाथ मदान, पृ०- ७०-७१

'नीरजा' में 'सागर' की नियति- तिमिर के प्रतीक के रूप में व्यंजना हुई है जिसकी लहरों में तारकों का अंगार भी बुझा जा रहा है-

' यह नियति-तिमिर-सागर अपार,
बुझते जिसमें तारक- अंगार;
मैं प्रथम रश्मि-सी कर श्रृंगार

आ अपनी छवि से ज्योतिर्मय,
कर देती उसकी लहर- लहर।' —नीरजा

यहां कवयित्री स्वयं एक ज्योति ( ज्ञान ) विकीर्ण करती हुई प्रथम रश्मि के रूप में अवतरित होने की आकांक्षा रखती हैं, जिससे नियति- सागर की प्रत्येक लहरें ज्योतिर्मान हो उठेंगी। इसमें महादेवी जी का आत्मबल एवम् उनकी आशावादी भावना व्यंजित हुई है। अज्ञानान्धकार को नष्ट करने के लिए कवयित्री ज्ञान की किरण के रूप में प्रकट होती हैं अर्थात् उसमें अपनी विराट करुणा से विश्व के कण- कण को आलोकित करने वाली कवयित्री की आध्यात्मिक अनुभूति का भाव ही प्रस्फुटित होता है।

कहीं- कहीं तो समय - सागर के प्रतीक का प्रयोग किया गया है। समय- सागर को पार करने के लिए अपने नेत्रों को ही तरणी बना देने वाली कवयित्री कह उठती हैं-

' यह प्रतिपल तरणी बन जाते,
पार कहीं होता तो यह दृग आज समय-सागर तर जाते ?'
— सान्ध्यगीत

यहां कवयित्री अपने आराध्य से आत्म-निवेदन-सा करती है कि यदि इस असीम्य समय- सागर का कोई किनारा होता तो वे अपने नेत्रों को तरणी बनाकर उनसे मिलने के लिए उस पार पहुंच जाती; किन्तु इसका भी कोई पता नहीं है। कवयित्री चिर साधना में लीन है। उसके रोम-कूप प्रहरी की भांति निरन्तर उसकी रक्षा करने के लिए सजग बने हुए हैं। साधना में लीन कवयित्री के लिए पलमात्र का कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया है, वरन् वह तो समय-सागर में एकरस हो गया है-

" मैं सजग चिर साधना ले।

सजग प्रहरी से निरन्तर,

जागते अलि रोम निर्भर

निमिष के बुद्बुद् मिटाकर

एक रस है समय - सागर।" — सान्ध्यगीत

यहां भी सागर को समय का प्रतीक माना गया है। कवयित्री अपने आराध्य की आराधना करते- करते स्वयं आराध्यमय हो गयी प्रतीत होती है, क्योंकि तभी तो उसके रोम- रोम भी उसकी रखवाली करने के लिए निरन्तर सचेत हैं। कवयित्री के लिए समय रूपी सागर स्थिर हो गया है और उसमें उनके लिए पलों की सत्ता समाप्त हो गयी है। यह सुखद अनुभूति कवयित्री को अपने आराध्य के निकट पहुंचा देती है, उसका अभिन्न बना देती है।

महादेवी का " समय- सागर " कहीं - कहीं " तम-सागर " में

परिवर्तित हो गया है अर्थात् सागर को "तम" के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया गया है-

"जो ले कम्पित लौ की तरणी
तम-सागर में अनजान बहा,
हंस पुलक, मरण का प्यार सहा,
मैं सस्मित बुझते दीपक में
सपनों का लोक बसा जाती।" — दीपशिखा

यहां कवयित्री संसार के प्रत्येक ऐसे तत्व को, जो दूसरों को सुखी बनाने के लिए प्रतिपल तत्पर रहते हैं, सुख के सपनों से भर देने की आकांक्षा रखती है, किन्तु ऐसा करने में वे अपने को सर्वथा असमर्थ पाती हैं। महादेवी जी की इस वेदना और इस पवित्र आकांक्षा के सन्दर्भ में श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने संकेत किया है-

"महादेवी जी की वेदना करुणा और त्याग से तरंगायित है। इसलिए वह वेदना, जो मनुष्य को द्रवित बनाकर दूसरों के लिए आत्म बलिदान की प्रेरणा देती है, दूसरों का दुःख दूर करने का उत्साह पैदा करती है, सहानुभूति तथा समानुभूति का विस्तार करती है, वह सर्वथा वरेण्य एवम् सर्वकल्याणमयी है। महादेवी जी की यह वेदनानुभूति विश्व-कल्याण से अनुप्राणित अपराजेय आशा और उल्लास से संचरित होती हुई अदम्य कार्यशीलता तथा अडिग आस्था का आह्वान करने में सक्षम ही सकाम एवम् अत्यन्त उच्चाशयी है।"[1]

---

1- महीयसी महादेवी : गंगाप्रसाद पाण्डेय, पृ०- १८४- १८५

इस प्रकार कवयित्री ने ' सागर ' को ' संसार ' 'तम ' स्वम् नियति के साथ ही ' ममता ' के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया है-

' फिर तुमने क्यों शूल बिछाए ?

मरु में रच प्यासों की बेला,

छोड़ा कोमल प्राण अकेला,

पर ज्वारों की तरणी ले ममता के शत सागर लहराये।'

— दीपशिखा

: :

' सागर' के साथ- साथ एक अन्य प्रतीक ' तरी ' का प्रयोग महादेवी की रचनाओं में भरा पड़ा है। सामान्यत: ' तरी ' का प्रयोग ' जीवन ' के अर्थ में किया गया है, किन्तु जैसा कि कहा जाता रहा है, प्रसंगानुसार प्रतीकों के अर्थ बदलते रहे हैं। ऐसे ही शब्द-प्रयोगों में महादेवी की आध्यात्मिक चेतना प्रकट हुई है- जैसे बीन के साथ रागिनी, घन के साथ दामिनी, रश्मि के साथ प्रकाश तथा सागर के साथ तरी का उल्लेख उनकी रचनाओं में बार-बार हुआ है।'जीवन' के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त ' तरी ' का उदाहरण देखा जा सकता है-

' नहीं है तरिणी कर्णाधार

अपरिचित है वह तेरा देश,

साथ है मेरे निर्मम देश ।

एक बस तेरा ही संदेश ।"    — नीहार

इसमें कवयित्री ने इस भाव की अभिव्यक्ति दी है कि उसकी जीवन नैया प्रियतम के देश तक पहुंचने में असमर्थ है। केवल एक बात के सहारे कि प्रियतम का अस्तित्व कहीं है, वे उनसे मिल सकती हैं। यहां कवयित्री की प्रियतम ( अनन्त ) से मिलने की लालसा भरी ललक एवम् अजस्र तड़पन का भाव व्यंजित होता है। कहीं - कहीं तो बादलों को ही मृदुल- तरी के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया गया है-

" रेख- सी लघु तिमिर- लहरी,

चरण छू तेरे हुई है सिन्धु सी मालीन

गीत तेरे पार जाते

बादलों की मृदु तरी ले ।"    —सान्ध्य गीत

इन पंक्तियों में अन्धकार की व्याप्ति का सहज वर्णन किया गया है। सन्ध्या काल में क्रमश: बढ़ते हुए अन्धकार का चित्रण करते हुए कवयित्री सन्ध्या को सम्बोधित करती हुई कहती है कि प्रारम्भ में तो अन्धकार एक छोटी-सी क्षीण रेखा के समान था; किन्तु तुम्हारे चरणों के स्पर्श ने उसे निस्सीम सागर की गहराई दे दी। तेरा संगीत ( सन्ध्या का मर्मर ) बादलों की नौका पर सागर के पार चला जाता है अर्थात् सन्ध्या का मर्मर सारे वातावरण को व्याप्त कर रहा है।

जहां कहीं कवयित्री ने ' सागर ' को ' समय ' के प्रतीक के

रूप में प्रयुक्त किया है, वहां पर ` पल ` तरी का प्रतीक बन जाता है-

" यह प्रतिपल तरणी बन जाते,

पार कहीं होता तो यह दृग क्षण सम्य-सागर तर जाते ?"

— सान्ध्यगीत

कवयित्री अपने आराध्य से मिलने के लिए अत्यन्त आतुर हैं। अत: वे कह उठती हैं कि यदि इष्ट का कोई पार होता ( उनका कोई निश्चित पता होता ) तो मेरी आंखें प्रत्येक पल को नौका बनाकर सम्य सागर को पार कर जाती । ` पल ` को ` तरणी ` बनाने वाली कवयित्री तट पर लगी हुई प्रियतम की `स्वर्ण-तरी` की प्रतीक्षा करती हैं, जो उसे लहरों से उठती हुई प्रियतम की पुकार के सहारे उस पार पहुंचा देगी, जो कवयित्री का इष्ट है-

" तट पर हो स्वर्ण- तरी तेरी

लहरों में प्रियतम की पुकार,

फिर कवि हमको क्या दूर देश

कैसा तट- क्या मंझधार पार ?" — सान्ध्य गीत

` सान्ध्य गीत ` में आराध्य से मिलन के लिये आकुल कवयित्री के प्राण ` दीपशिखा ` तक आते- आते उनकी एक पुकार पर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं-

" जब तरी पतवार लाकर

तुम दिखा मत पार देना,

आज गर्जन में मुझे बस

एक बार पुकार लेना

ज्वार को तरणी बना मैं, इस प्रलय का पार पा लूं।"

— दीपशिखा

पार जाने वाले किसी व्यक्ति को तरी और पतवार लाकर पार दिखा देना सहानुभूति का व्यापार है। कवयित्री अपने आराध्य की सहानुभूति नहीं चाहतीं; इसीलिए वे इस कार्य के लिए वर्जना करती हैं। वे स्वयं ज्वार को तरणी बनाकर इस प्रलय को पार कर लेना चाहती हैं। यह कवयित्री के साहसी एवम् आत्मनिर्भर व्यक्तित्व का द्योतक है। यहां ज्वार को तरणी के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया गया है।

कहीं-कहीं तो कवयित्री ने अपने हृदय को ही 'तरी' के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है, जिस पर पड़ती हुई उनकी प्रत्येक सांस सैकड़ों शिलाओं के भार-सी प्रतीत होती है-

"ज्वाल पारावार-सी है

शृंखला पतवार-सी है,

बिखरती उर की तरी में

आज तो हर सांस बनती शत शिला के भार-सी है।"

— दीपशिखा

महादेवी वर्मा ने प्रेमानुभूति, विरह-वेदना एवम् प्रेम-बोध आदि

को अभिव्यंजित करने के लिए ` तीर ` को प्रतीक रूप में ग्रहण किया है। जिस प्रकार तीर से घायल प्राणी पीड़ा से तड़पता है, उसी प्रकार प्रेम-पीड़ा से प्रेमी का हृदय तड़पता है। प्रतिक्रियात्मक समानता के कारण दोनों एक जैसे हैं, जिसे कामदेव के पुष्पबाण की कल्पना के आधार पर ग्रहण किया गया है। अन्य कवियों ने भी इसी आधार पर प्रेम को अभिव्यक्ति देने के लिए ` शर ` को प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया है। ` रश्मि ` की प्रथम कविता का प्रतीकात्मक रूप देखा जा सकता है-

` चुभते ही तेरा अरुण बान।
बहते कन- कन से फूट - फूट,
मधु के निर्झर- से सजल गान।
इन कनक-रश्मियों में अथाह,
लेता हिलोर तम-सिन्धु जाग;
बुद्बुद् से बह चलते अपार,
उसमें विहगों के मधुर राग
बनती प्रवाल का मृदुल कूल
जो क्षितिज रेख थी कुहर- म्लान।` — रश्मि

इसमें प्रभात की स्वर्णिम झांकी का चित्रण किया गया है। कवयित्री ने प्रथम सूर्य- रश्मि को ` बाण ` के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया है। सृष्टि के कण- कण में समाहित रस इस रश्मि बाण के लगते ही मधु के झरनों के गान के रूप में बह निकलता है अर्थात् प्रथम

किरण के धरती पर उतरते ही भौंरे गुंजार करने लगते हैं, पक्षी कलरव करने लगते हैं एवं पूजा-घरों में घण्टे- घड़ियाल बज उठते हैं- ऐसा प्रतीत होता है मानो सृष्टि के कण- कण से संगीत की धारा बह निकली हो। ऐसी अवस्था में मनुष्य की हृत्तंत्री भी उस संगीत के अनुपम स्वर से झंकृत हो उठती है। हृदय का कोना- कोना उस झंकार से गूंज उठता है। प्रथम कविता का यह 'रश्मि - बाण' 'रश्मि' की दूसरी कविता में 'सुमन- तीर' के रूप में व्यंजित हुआ है-

'किस सुधि- बसन्त का सुमन- तीर,
कर गया मुग्ध मानस अधीर।' — रश्मि

कभी- कभी स्मृतियों का आगमन भी बसन्त के आगमन से कम महत्वपूर्ण नहीं लगता। कवयित्री के किसी स्मृति- बसन्त का मधुमय बाण उनके मुग्ध हृदय में बिंध जाता है, जिससे उनका हृदय अधीर हो उठता है। बसन्त के आगमन पर प्रकृति की छटा निराली हो उठती है। बन- उपवन सभी में नवीन जीवन रस का संचार होने लगता है, उसी प्रकार कोई - कोई स्मृतियां भी मनुष्य के हृदय में नवीन जीवन- रस की सृष्टि कर देती हैं। हमारी सुप्त भावनाएं जाग्रत हो उठती हैं, हृदय उल्लास से भर उठता है, एवं अधरों पर मुस्कान की रेखा उभर आती है। हृदय की इसी मधुर कसक को व्यक्त करने के लिए महादेवीजी ने 'सुमन' को 'तीर' के प्रतीक- रूप में प्रयुक्त किया है। 'रश्मि' का यह 'सुमन-तीर' 'नीरजा' में जाकर 'हिम-किरण-बाण' बन जाता है-

" विस्मृत- शशि के हिम-किरण- बाण,

करते जीवन- सर मूक- प्राण,

बन मलय- पवन चढ़ रश्मि- यान,

मैं आती ले मधु का संदेश

भरने नीरव उर में मर्मर ।"

प्रिय की स्मृति कवयित्री को व्यथित कर देती है। उसी का चित्रण करते हुए वे कहती हैं कि न जाने कौन मुझे स्वप्न में जगाने आया था ? जागरण की स्थिति में आते ही वह ( प्रिय ) कहीं विलुप्त हो गया, केवल उसकी उंगलियों की स्मृति ही उनके पास शेष रह गयी है। अब उन उंगलियों की स्मृति के सहारे ही कवयित्री को जीवन- यापन करना है। कवयित्री स्वयं को उस बाण के समान मानती हैं जो रात्रि के हृदय में दिन की इच्छा बनकर बिंधा हुआ है, अर्थात् वे रात्रिकालीन अन्धकार को विनष्ट कर दिन का प्रकाश फैलाने वाले किरण-बाण के समान हैं। यहां " बाण " प्रतीक रूप में कवयित्री के जीवन की अभिव्यंजना करता है-

" कौन आया था न जाने

स्वप्न में मुझको जगाने,

याद में उन उंगलियों की

है मुझे पर युग बिताने;

रात के उर में दिवस की चाह का शर हूं ।"

— सान्ध्य गीत

इन पंक्तियों में प्रिय की स्मृति का सजीव एवं मूर्त रूप अभिव्यक्त हुआ है, साथ ही कवयित्री की रहस्यात्मकता की भी व्यंजना हुई है।

प्रातःकालीन वातावरण में अपनी पीड़ा का आरोप करती हुई कवयित्री कहती है कि जब सूर्य की प्रथम किरण प्रातःकाल घने बादलों के हृदय को चीरकर ( वेधकर ) धरती पर पहुंचती है, तब यह दीपित स्वप्न रूपी विहंगों के लिए मूक- निषेध सा बन जाता है और उस वेला में प्राण प्रकृति के कण- कण का मानो पुलक से शृंगार करने लगते हैं-

" स्वर्ण- शर से साध के

- घन ने लिया उर वेध,

स्वप्न-विहंगों को हुआ

यह दीपित मूक- निषेध।

प्राण चले करने कणों का पुलक से शृंगार।" — दीपशिखा

यहां ' स्वर्ण- शर ' को ' सूर्य की प्रथम किरण ' के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया गया है। प्रातःकाल में बादलों के हृदय को वेधना मानवीय पीड़ा की अभिव्यक्ति का संकेत प्रस्तुत करता है। 'स्वर्ण ' शब्द पीड़ा को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

जब कवयित्री मेघ के समान घिरकर बरसने को उद्यत होती हैं तो उन्हें पथ के शूल या दिन के अग्नि- शर की भी परवाह नहीं होती । वे आत्म विश्वास के साथ अपने कर्म में लीन रहना चाहती हैं। तभी तो उनकी भावनाएं इस रूप में व्यक्त हुई हैं-

" कब किरण का अग्नि-शर
मेरी सजलता बेध पाया,
तारकों ने मुकुर बन
दिग्भ्रान्त कब मुझको बनाया ?
ले गगन का दर्प रज में
उतर सहज निखर चली मैं।"
— दीपशिखा

अर्थात् सूर्य की तप्त किरणें भी बादलों की सजलता को विनष्ट नहीं कर सकतीं और न ही तारावों का दर्पण उन्हें दिग्भ्रान्त कर सकता है। वे धरती ( नीचे ) पर उतरती हुई भी अपने अन्दर आकाश ( उच्चता ) के दर्प को संजोये हुए हैं। विश्व-वेदना से संयुक्त कवयित्री अपनी पीड़ा के परिहार के लिए नहीं, अपितु दूसरों के कल्याण के लिए सतत संघर्षरत हैं। उनकी इस सहृदयता के सन्दर्भ में श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय का विचार उल्लेखनीय है-

" व्यक्तिगत मुक्ति की उपेक्षा करते हुए लोक के पीड़ित प्राणियों के प्रति सहृदयता और सहानुभूति से सर्वांशत: संवेदित होकर उन्होंने अध्यात्म को सर्वांगीण मानवीय करुणा के रूप में प्रतिष्ठित कर

दिया है। अध्यात्म की यह रागात्मक एवं लोकसंग्रही अभिनवता वास्तव में उन्हें 'करुणा की वाहक अभिनव' सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।"[1]

: :

महादेवी वर्मा की रचना में अनेक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, जिनमें 'दर्पण' भी अपना एक स्थान रखता है। 'दर्पण' को प्रमुखतः माया- व्यवधान के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया गया है। परमात्मा से विमुक्त होकर आत्मा माया में लिप्त हो जाती है, किन्तु माया का आवरण छूट जाने पर वह पुनः परमात्मा में विलीन हो जाती है। इसे तादात्म्य की स्थिति कहते हैं। इसी तादात्म्यपरक भाव की अभिव्यक्ति कवयित्री की इस कविता में हुई है-

" टूट गया वह दर्पण निर्मम।

उसमें हंस दी मेरी छाया।

मुझमें रो दी ममता माया,

अश्रु-हास ने विश्व सजाया,

रहे खेलते आंख मिचौनी

प्रिय जिसके परदे में 'मैं'- 'तुम'

— नीरजा

---

१- महीयसी महादेवी : श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय, पृ०- २०४

यदि अपना स्वरूप हम बिना दर्पण के देख पायें तो उसकी कुछ उपयोगिता नहीं रह जाती । आत्मबोध की सीमा के छू लेने पर यह विश्व-दर्पण व्यर्थ-सा हो जाता है ।"[१]

माया के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त `दर्पण` कहीं `रज का मंजु मुकुर` बन जाता है-

तेरी सुधि बिन क्षण- क्षण सूना ।

कम्पित- कम्पित

पुलकित- पुलकित

परछाईं मेरी से चित्रित

रहने दो रज का मंजु मुकुर

इस बिन श्रृंगार-सदन सूना ।"

इन पंक्तियों में कवयित्री को अपने प्रियतम की स्मृति के बिना एक- एक पल सूना प्रतीत होता है । वे स्नेह एवं रोमांच से मुक्त अपनी छाया को `रज के मंजु मुकुर` में चित्रित रहने देना चाहती हैं, क्योंकि उनका यह चित्र ही उनका श्रृंगार- सदन है ।

सान्ध्यगीत में उन्होंने चन्द्रमा के प्रतीक के लिए `दर्पण` का प्रयोग किया है । कवयित्री शशि के दर्पण में देखकर अपना तिमिर-केश सुलझाती है ; तारावों के पारिजात से उन केशों को संवारती हैं

---

१- महीयसी महादेवी : श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय, पृ०- २९६

तथा किरणों का घूंघट निकाल कर वे अपने प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा करती है, किन्तु उनका यह अभिनव शृंगार भी अपने आराध्य को रिझाने में समर्थ नहीं हो सका है-

" शशि के दर्पण में देख- देख
मैंने सुलझाए तिमिर- केश
गूंथे चुन तारक- पारिजात,
अवगुंठन कर किरणें अशेष; "

' सान्ध्य गीत ' में भी माया के प्रतीक के रूप में 'दर्पण' को व्यंजित किया गया है। इसमें आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को अभिव्यक्ति देने के लिए क्रमश: 'प्रतिबिम्ब' और 'दर्पण' को प्रतीक के रूप में ग्रहण किया गया है-

" तोड़ देता खीझकर जब तक
न, प्रिय यह मुकुर दर्पण;
देख लो उसके अधर सस्मित,
सजल दृग, अलस आनन;
आरसी प्रतिबिम्ब का कब चिर हुआ जग स्नेह नाता।"

परमात्मा ही जीव को माया-रत करता है और वही माया से मुक्ति भी दिलाता है अर्थात् परमात्मा के अस्तित्व का बोध होते ही व्यक्ति माया से विरत होने लगता है। इसी भाव की अभिव्यक्ति महादेवी की इन पंक्तियों में प्रतीक के माध्यम से हुई है। साधिका

का प्रियतम जब तक माया के इस मृदुल दर्पण को झीमककर तोड़ नहीं देता, तब तक वे इसमें अपने प्रियतम के मुस्कराते हुए अधरों, स्नेह-जल से सिक्त आंखों एवं सुमुख का भरपूर दर्शन कर लेना चाहती हैं, क्योंकि पता नहीं, कब यह `दर्पण` टूट जाये और वे उस प्रतिबिम्ब को देखने से वंचित रह जायें। वे जानती हैं कि दर्पण और प्रतिबिम्ब के स्नेह का सम्बन्ध इस संसार में कभी चिर ( स्थायी ) नहीं हुआ है। दर्पण जब तक सामने रहता है, देखने वाले का प्रतिबिम्ब उसमें उतरता है और उसके टूट जाने पर व्यक्ति का प्रतिबिम्ब भी समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार जब तक मनुष्य माया के आवरण में लिप्त रहता है, तब तक उसमें अपनेपन का भाव विद्यमान रहता है, किन्तु माया का परदा हटते ही उसका अपना अस्तित्व समाप्त हो जाता है। आत्मा, परमात्मा में समाहित हो जाती है- तादात्म्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

महादेवी वर्मा की रचनाओं में `रजनी` का प्रतीक भी बार-बार प्रयुक्त होता रहा है। यद्यपि उन्होंने `उषा` एवं `सन्ध्या` को भी प्रतीक के रूप में व्यंजित किया है, किन्तु इनमें उनका सर्वाधिक प्रिय प्रतीक `रजनी` ही है। `रजनी` के प्रति उनका आकर्षण `नीहार` और `रश्मि` में पुलक भरा है, `नीरजा` में आवेशमय और `सान्ध्यगीत` तथा `दीपशिखा` में निर्वाणोन्मुख। `नीहार` की निम्नलिखित पंक्तियाँ मिलन के मादक व्यापार की संरचना करती हैं-

"रजनी ओढ़े जाती थी,

झिलमिल तारों की जाली ।

उसके बिखरे वैभव पर

जब रोती थी उजियाली ।" — नीहार

यहां "रजनी" को नायिका के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो झिलमिलाते हुए तारों की जाली ओढ़े हुए विदा ले रही है। "रजनी" महादेवी जी के भाव-अर्चन का लक्ष्य बनती रही है। वसन्त-रजनी की रूप-सज्जा के लिए कवयित्री का उपक्रम देखते ही बनता है। वैसे तो प्रकृति को नारी के प्रतीक के रूप में अन्य कवियों की भांति महादेवी ने बार-बार अभिव्यक्त किया है, किन्तु प्रस्तुत कविता नवोढ़ा नायिका का सजीव चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ हुई है-

"धीरे-धीरे उतर क्षितिज से

आ वसन्त-रजनी ।

तारकमय नव वेणी बन्धन,

शीश-फूल कर शशि का नूतन,

रश्मि-वलय सित घन-अवगुण्ठन

मुक्ताहल अभिराम बिछा दे

चितवन से अपनी ।

पुलकती आ वसन्त-रजनी ।"

इसमें "वसन्त-रजनी" को तारों की वेणी, शशि का शीशफूल, किरणों का वलय, बादलों का घूंघट ओढ़े हुए तथा अपनी

चितवन से सौन्दर्य की सृष्टि करने वाली; प्रिय- मिलन की आशा से पुलकित मन वाली एक नायिका का चित्र उपस्थित हो जाता है। इसी कविता की अगली पंक्तियां प्रिय-मिलन के लिए अभिसार करने वाली शुक्लाभिसारिका नवोढ़ा नायिका का चित्र प्रस्तुत करती हैं-

" पुलकित स्वप्नों की रोमावली,

कर में हो स्मृतियों की अंजलि,

मलयानिल का चल दुकूल अलि !

घिर छाया- सी श्याम, विश्व को

आ अभिसार बनी !

सकुचती आ बसन्त- रजनी ! "

यहां कवयित्री नायिका के रूप में प्रस्तुत करती हुई बसन्त-रजनी को रात्रि के समय देखे हुए रोमांचक स्वप्नों को ही अपनी रोमावली बनाकर, हाथों में स्मृतियों को सजाकर, मलय- पवन को ही अपना लहराता हुआ आंचल ( दुपट्टा ) बनाकर नवपरिणीता वधू के समान सकुचाती हुई संसार- रूपी प्रियतम से मिलने के लिए अन्धकार की छाया के समान घिरकर आने का आमंत्रण देती हैं।

ये पंक्तियां जहां नवोढ़ा- नायिका की रूप-सज्जा का चित्रांकन प्रस्तुत करती हैं, वहीं " नीरजा " की एक अन्य कविता में " रजनी " को सद्य:स्नाता नायिका के रूप में चित्रित किया गया है-

" रूपसि तेरा घन-केश-पाश ।

श्यामल श्यामल कोमल कोमल

लहराता सुरभित केश- पाश ।

नभगंगा की रजत धार में,

धो आई क्या इन्हें रात ?

कम्पित हैं तेरे सजल अंग,

सिहरा- सा तन है सद्यस्नात ।

भीगी अलकों के छोरों से

चूती बूंदे कर विविध लास ।

रूपसि तेरा घन-केश-पाश ।"

यहां रात्रि की घनी कालिमा ही नायिका के श्यामल, लहराते हुए लम्बे एवं सुरभित केश की अभिव्यंजना करती है। उच्छ्वसित वक्ष, मलय-पवन बन जाने वाली निश्वासें तथा साथ ही मयूरी की नूपुर-ध्वनि ये सारे दृश्य अनजाने ही मन में प्यार की ललक जागृत करते हैं; किन्तु इस प्यार में सौन्दर्य - पिपासु प्रेमी की ललक का भाव व्यक्त नहीं होता, वरन् उदास जग-शिशु का अपनी मां से मिलने की आतुरता व्यंजित होती है। प्यार का ऐसा स्वरूप, शीतलता एवं शान्ति का "ऐसा स्पर्श बड़ा ही मोहक होता है-

" इन स्निग्ध लटों से छा दे तन,

पुलकित अंकों में भर विशाल;

झुक सस्मित शीतल चुम्बन से

आंकित कर उसका मृदुल भाल;

दुलरा देना बहला देना,

यह तेरा शिशु- जग है उदास ।

रूपसि तेरा घन-केश-पाश ।"

इन पंक्तियों में 'रजनी' को ममतामयी मां एवं 'जग' को उसके शिशु के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया गया है। कवयित्री रजनी से आग्रह-सा करती है कि वह काले अन्धकार की अपनी स्निग्ध लटों से अपने जग- शिशु को आच्छादित कर ले, सुरक्षा का आश्वासन दे दे तथा उसे अपने विशाल अंकों में भरकर उसके माथे पर शीतल चुम्बन अंकित कर दे, क्योंकि वह मां के अभाव में उदास-सा है। इन पंक्तियों में 'रजनी' को वात्सल्यमयी मां के 'प्रतीक' के रूप में व्यंजित किया गया है।

महादेवी वर्मा ने अपने इस प्रतीक 'रजनी' को सखी के रूप में भी चित्रित किया है। वे अपनी इस चिर-प्रतीक्षित सखी से मिलने के लिए आकुल हैं। अतः उससे शीघ्रातिशीघ्र आने का अनुनय करती हैं-

" आ मेरी चिर मिलन-यामिनी;

तममयि ! घिर आ धीरे- धीरे,

आज न उच अलकों में हीरे,

चौंका दें जग श्वास न धीरे,

ढीले मर्दे शिथिल करों में-

गूंथे हरसृंगार कामिनी !"

इन पंक्तियों में कवयित्री 'रजनी' से आग्रह करती हैं कि वह सघन तिमिर के रूप में घिरकर धीरे-धीरे आ जाये, सितारे भी छिप जायें, समीर की सांसों और हरसिंगार के फूलों के झरने का शब्द भी न होने पाये, लहरें सो जायें एवम् कलियां रोने न पायें; यहां तक कि कवयित्री अपनी तंत्री को विरह-रागिनी से झंकृत भी नहीं होने देना चाहती हैं-

> " रजनी ! न मेरी उर-कम्पन से
>
> आज बजेगी विरह-रागिनी ।"

क्योंकि आज उनकी मनोकामना सिद्ध होने जा रही है; अब वह चिरविरहिणी नहीं कहलायेगी । आज तो विश्व का कण-कण उन्हें चिर-सुहागिनी कहेगा-

> " तम में हो चल छाया का क्षय,
>
> सीमित को असीम में चिर लय,
>
> एक हार में हों शत-शत जय,
>
> सजनि ! विश्व का कण-कण मुझको
>
> आज कहेगा चिर-सुहागिनी !" —नीरजा

किन्तु "सान्ध्यगीत" की "जाग-जाग सुकेशिनी री" में महादेवी का स्वर एकदम बदल गया है । सम्पूर्ण कविता में अलसाया हुआ एक स्वर विद्यमान है । तन्द्रिलता और आलस्य के भाव से परिपूर्ण इस कविता में "रजनी" किसी का पथ देखती हुई भाव-तन्मय

प्रेमिका के प्रतीक के रूप में व्यंजित की गयी है-

" जाग- जाग सुकेशिनी री !

अनिल ने आ मृदुल डोले,

शिथिल वेणी- बन्ध खोले,

पर न तेरे पलक डोले,

बिखरती अलकें भरे जाते

सुमन वर वेणिनी री !

छांह में अस्तित्व खोये,

अश्रु से सब रंग धोये,

मन्दप्रभ दीपक संजोये

पंथ किसका देखती तू अलस

स्वप्न निमीलिनी री !" —सांध्यगीत

" दीपशिखा " की ही कविता " सपने जगाती आ " में रजनी को पथ प्रदर्शिका के प्रतीक के रूप में व्यंजित किया गया है। इसमें " रजनी " का जो स्वरूप चित्रित है वह सांसारिक सुख- दुःख के सन्दर्भ में केवल मृदुल लेप बनकर रह गया है-

" सपने जगाती आ।

श्याम—अंचल,

स्नेह—उर्मिल,

तारकों से चित्र उज्ज्वल,

घिर घटा- सी चाप सी पुलकें उठाती आ।

हर पल खिलाती आ।

` रजनी ` महादेवी जी के लिए एक सुखद स्पर्श से पूर्ण आश्वास्तिकारी सखि सरीखी है। कभी वह अपने स्नेह से परिपूर्ण अंचल की छांव में उन्हें आश्रय देती है, कभी अपनी इन्द्रधनुषी पलकें उठाकर उन्हें अपना स्नेहिल स्पर्श देती है। रजनी उन्हें एक अद्भुत शक्ति और सत्य प्रदान करती है। उसका अन्धकार कवयित्री के लिए एक रहस्यलोक का काम करता है। आकाश के तारे उन्हें एक विचित्र-लोक में ले जाते हैं। इस प्रकार किसी - न - किसी रूप में रजनी उन्हें अपनी विश्रान्तिदायिनी अंक में सुलाती- सहलाती रहती है।

::

` दीपशिखा ` में प्रतीक के रूप में बार- बार ` शलभ ` का प्रयोग हुआ है। अपने प्राणों को तिल तिल कर जलाने के लिए आतुर `शलभ ` कहीं प्रेम में प्राणोत्सर्ग करने वाले के प्रतीक के रूप में व्यंजित हुआ है, तो कहीं मायालिप्त- जीव के रूप में।[1] ` नीरजा ` में उसका पागल प्रणयी का स्वरूप चित्रित हुआ है-

जो तू जलने को पागल हो,

आंसू का जल स्नेह बनेगा ;

---

१- सान्ध्यगीत :` शलभ मैं शापमय वर हूं। ` पृ०-

घूमती न निस्पन्द जगत में

जल- तुम्र, यह वह क्रन्दन करता क्यों ?

दीपक में पतंग जलता क्यों ? — नीरजा

" तारे महादेवी जी के काव्य में लौकिक भावों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। एक ही भाव की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने कई प्रतीकों का प्रयोग किया है। जैसे भावों के प्रतीक के लिए ही उन्होंने कहीं " वीणा के तार " लिखा है तो कहीं " उज्ज्वल तारे" और कहीं " कलियों के उच्छ्वास " । इसी प्रकार " सुख " की अभिव्यक्ति के लिए वे जहां " मधु " का प्रयोग करती हैं, वहीं " रश्मि " और " मलय - पवन " का भी । " नदात्र " जहां आंसुओं के भाव के प्रतीक हैं, वहीं " तुहिन - कण," " मोती " तथा "मकरन्द " भी । " इच्छाओं को व्यंजित करने के लिए कहीं उन्होंने "मकरन्द " का प्रयोग किया है तो कहीं " सौरभ " और कहीं "इन्द्रधनुष " के रंगों का। जीवन का अर्थ जहां वह " तरी " से ग्रहण करती हैं वहीं " वसन्त ", " लहर " और " प्याली " से भी। इसी का तात्पर्य यह है कि आकार अथवा वर्ण - साम्य के आधार पर प्रतीकों का अर्थ लगाते हुए भी बहुत कुछ प्रसंग पर निर्भर करना पड़ता है। महादेवी जी ने कुछ प्रतीकों को ऋतुओं से ग्रहण किया है जो इस प्रकार है—

`ग्रीष्म` का प्रयोग वे रोष को व्यंजित करने के लिए करती हैं तो `वर्षा` का करुणा के लिए। इसी तरह `शिशिर` जड़ता को अभिव्यक्त करता है तो पतझर दुःख को एवम् `वसन्त` आनन्द को, किन्तु यहां भी आवश्यकता नहीं कि एक प्रतीक एक ही भाव की अभिव्यक्ति करता हो।

(ख) महादेवी वर्मा के काव्य में बिम्ब-विधान :

महादेवी वर्मा की कविताओं में प्रतीक- योजना का जितना सूक्ष्म एवं एकोन्मुख सौन्दर्य व्यंजित होता है; उतना ही उनके वर्ण-गन्धमय बिम्बों का भी । उनका काव्य रहस्यपरक होने के कारण व्यंजनागर्भी बिम्बों की संरचना करता है । अन्य छायावादी कवियों की भांति महादेवी जी भी अनेक बिम्बों को अस्पष्ट वातावरण में उकेरती हैं । प्राय: सभी छायावादी कवि प्रकृति पर एक अनुराग रंजित व्यक्तित्व का आरोपण कर आत्म-निवेदन के लिए एक मूर्त कल्पना का आधार ढूंढ लेते हैं, जिससे उनके बिम्बों का स्वरूप अस्पष्ट रह जाता है । इस तरह के बिम्ब- संरचना में महादेवी जी अग्रणी हैं । महादेवी के काव्य में बिम्ब-विधान पर विवेचन करने से पूर्व काव्य में बिम्बों की महत्ता पर प्रकाश डालना आवश्यक है । बिम्ब-निर्माण का मूल आधार कवि द्वारा दिए गये शब्द ही होते हैं और उन्हीं के अर्थ की सहायता से संश्लिष्ट बिम्ब की संरचना होती है । डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने तो बिम्बों को काव्य का केन्द्रीय तत्व स्वीकार किया है-

" कविता की भाषा का केन्द्रीय तत्व भावचित्रों अथवा बिम्बों का विधान है । कवि परम्परा में स्वीकृत भावचित्रों का प्रयोग अधिक नहीं करता; आवश्यकता पड़ने पर सामान्य से सामान्य शब्द के आधारपर अपना अभिलषित भावचित्र स्वयं निर्मित करता है ।"[1]

---

१- भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- २४

बिम्ब मनुष्य की स्मृति और उसके रागात्मक सम्बन्ध के योग से चित्त में निर्मित होता है। बिम्बों के सहारे चेतना के गहरे से गहरे स्तर उन्मीलित होते हैं; क्योंकि स्मृति ही मनुष्य का व्यक्तित्व है। यह स्मृति व्यक्ति की भी होती है, जाति की भी। इसी जातीय स्मृति से जुड़े बिम्ब ही साहित्य के उपादान बनते हैं। बिम्ब मूलत: एक शब्द से सारे परिवेश को हमारे सामने विवृत कर देते हैं। अत: कहा जा सकता है कि किसी कवि की क्षमता के द्योतक उनके द्वारा रचित भावचित्र ही होते हैं। इस सन्दर्भ में डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के विचार उल्लेखनीय हैं-

" प्रतीकों की भावचित्रों में परिणति काव्यभाषा के बनने की मुख्य स्थिति है। प्रतीक-रूप में शब्दों का प्रयोग काव्यभाषा के बाहर भी होता है ( भाषा अन्तत: है भी क्या प्रतीकों के अतिरिक्त )। पर भावचित्रों के माध्यम से बात कहना कवि के लिए ही सुलभ है। भाषा का अधिकतम सर्जनात्मक प्रयोग इन भावचित्रों से संभव हो पाता है। यह कहा जा सकता है कि सन्दर्भ रूप में शब्द के साथ अनिवार्य रूप से जो परिवेश जुड़ा रहता है, प्रतीक की स्थिति में उसे ध्वस्त करके, भावचित्र के रूप में कवि उस शब्द-विशेष के साथ अपना इच्छित परिवेश जोड़ता है। सन्दर्भ के रूप में चक्रव्यूह महाभारत कालीन एक सैन्य-विधान है, प्रतीक रूप में वह मानसिक गुत्थियों का परिचायक है और भावचित्र की स्थिति में वह उन गुत्थियों के साथ उसके व्यापक परिवेश को भी द्योतित करता है।"[1]

---

१- भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- ६७

समय-समय पर बिम्ब विधान की शैली में परिवर्तन भी आता रहा है। द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मकता, जो कि नयी अनुभूतियों को सम्प्रेषित करने में असमर्थ थी, से परे हटकर छायावादी कवियों ने स्वच्छन्द कल्पना और प्रचलित रूढ़-शब्दों को नये अर्थ-सन्दर्भ से संयुक्त कर प्रस्तुत किया। इस प्रकार उन्होंने एक सर्जनात्मक काव्यभाषा का निर्माण किया। तद्युगीन स्थूल और अप्रस्तुत विधान के स्थान पर बिम्बों को नये सूक्ष्म स्तर पर विकसित किया गया। काव्य में प्रतीकात्मक बिम्बों को श्रेष्ठतम बिम्ब माना जाता है। "प्रतीक" केवल प्रतीक के रूप में उतने समर्थ नहीं होते, जितने बिम्ब के रूप में परिणित होने पर होते हैं। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने बिम्ब की भाषा को ही काव्यभाषा स्वीकार करते हुए प्रतीक की अपेक्षा बिम्ब को महत्वपूर्ण माना है-

" प्रतीक के माध्यम से सामाजिक अर्थ को एक वैयक्तिक स्तर तक लाने की चेष्टा होती है, पर अनुभूति की अद्वितीयता इन प्रतीकों के सामाजिक-वैयक्तिक रूप से पूरी व्यक्त नहीं हो पाती। भावचित्र की स्थिति में कवि प्रतीक की अपेक्षाया स्वीकृत परिवेश को तोड़कर अपना आवश्यक और इच्छित परिवेश निर्मित करता है। --- प्रतीक का मूल तत्व यही है कि उसके माध्यम से किसी शब्द के सम्पूर्ण और चरम अर्थ के स्थान पर उसके इच्छित आंशिक तत्व को ही ग्रहण किया जाये। भावचित्र की स्थिति में इस आंशिक अर्थ को कवि एक वैयक्तिक संगति प्रदान करता है।"[1]

१- भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- २८- २९

काव्यात्मक बिम्बों में यह प्रतीकात्मकता दो प्रकार से संभव होती है- (१) विभिन्न प्रसंगों में, एक ही बिम्ब की अनेक कलात्मक आवृत्तियों के द्वारा तथा (२) लाक्षणिक वक्रताओं के द्वारा। छायावादी कवियों में ये दोनों पद्धतियां मिलती हैं। पहली पद्धति का स्वरूप महादेवी जी की रचनाओं में विकसित है एवं दूसरी का पंत, प्रसाद, निराला की कविताओं में। महादेवी जी के काव्य में बार-बार दीप, बाती, फूल, नक्षत्र, तूलिका इत्यादि शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिससे इनमें प्रतीकों की- सी एकोन्मुखता आ गयी है।

महादेवी जी के बिम्ब-विधान में मूर्ति- कला एवं चित्रकला का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है; जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है-

" व्यक्तिगत रूप से मुझे मूर्तिकला विशेष आकर्षित करती है, क्योंकि उसमें कलाकार के अन्तर्जगत का वैभव ही नहीं, बाह्य आयास भी अपेक्षित रहता है। --- चित्रकला में भी बहुत छोटे- से ज्ञान बीज पर मैंने रंग- रेखा की शाखाएं फैला दी हैं।"[१]

चित्रकला का यह प्रभाव उनकी कविताओं में भी वर्ण-परिज्ञान के रूप में बिखरा हुआ है। फलतः उनके बिम्ब-विधान में भी रंगीन रेखाओं की झलक मिलती है। उदाहरण के लिए " रश्मि " की यह कविता प्रस्तुत है-

---

१- दीपशिखा की भूमिका : महादेवी वर्मा, पृ०- २२

`गुलालों से रवि का पथ लीप
जला पश्चिम में पहला दीप
विहंसती सन्ध्या भरी सुहाग
दृगों से भरता स्वर्ण- पराग ।`

इसमें सन्ध्या-काल का वर्णन किया गया है। सूर्यास्त के समय आकाश में फैली हुई लालिमा को कवयित्री गुलाल से पुते हुए सूर्य के पथ के रूप में व्यंजित करती हैं; जिससे होकर नायिका सन्ध्या का प्रियतम आने वाला है। उसने पश्चिम दिशा में उगे हुए प्रथम तारे का ही दीपक जला रखा है। सुहाग से भरी हुई नायिका सन्ध्या के नेत्रों से प्रसन्नता का स्वर्णिम पराग भर रहा है। इस प्रकार सुसज्जित होकर वह अपने प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। यहां प्रयुक्त `गुलाल`, `सुहाग` तथा स्वर्ण- पराग` रंगों का बोध कराने में सर्वथा समर्थ हैं। इस प्रकार की रंगबोधमयी सप्राणता का सशक्त रूप महादेवी की रचनाओं में बिखरा पड़ा है।

`नीहार` में भी उन्होंने इस प्रकार के अनेक बिम्बों की संरचना की है- प्रात:कालीन सूर्य के निकलते ही आकाश के पूर्वी क्षितिज पर लालिमा छा जाती है, जिसे व्यंजित करने के लिए कवयित्री ने प्रात:काल का मानवीकरण कर दिया है, जो अपने सुनहले अंचल में रोली बिखेरे हुए मानों हंस रहा है-

`हंस देता जब प्रात: सुनहरे
अंचल में बिखरा रोली,

लहरों की बिछलन पर, जब
मचलीं पड़तीं किरणें भोली ,

यहाँ 'सुनहले अंचल में फैला रोली' पढ़ते ही किसी सुनहले स्थल पर बिखरी हुई रोली का बिम्ब दृश्यमान हो उठता है। इस प्रकार का वर्ण- परिज्ञान काव्य-कला बिम्ब- विधान के लिए महत्वपूर्ण होती है। इससे बिम्बों में ऐन्द्रियता एवं अभिव्यक्ति में व्यंजक-वक्रता आ जाती है। साथ ही रंग कवि के आन्तरिक मनोवृत्ति के परिचायक होते हैं। महादेवी जी के काव्य में श्वेत रंग और श्वेत रंग वाले पदार्थों का प्रयोग- बाहुल्य मिलता है। उनकी प्रथम कविता से ही श्वेत रंग की वस्तुओं का प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है-

' निशा को धो देता राकेश,
चांदनी में जब अलकें खोल;
कली से कहता था मधुमास,
बता दो मधु- मदिरा का मोल ।'

इसमें प्रयुक्त ' राकेश ', ' चांदनी,' ' मधुमास ' आदि शब्द श्वेत रंग का ही बोध कराते हैं। महादेवी ने आत्म-प्रकाशन हेतु श्वेत- रंग का ही चयन किया है। वास्तविक जीवन की तरह काव्य में भी श्वेत- वसना ही दिखती हैं--

' पाटल के सुरभित रंगों से,
रंग दे हिम- सा उज्ज्वल दुकूल

गूंथ दे रसना में अलिगुंजन

से, पुरित झरते बकुल- फूल ।`      — सान्ध्यगीत

इसी प्रकार उनकी रचनाओं में प्रयुक्त अनेक शब्द- ओस, किरण, नीहार, रजत, तारक-दल, हीरक- जल इत्यादि श्वेत रंग की ही प्रतीति कराते हैं। इस वर्ण-परिज्ञान के अतिरिक्त उनकी रचनाओं में व्यापार विधायक बिम्बों की भी बहुलता है। उदाहरण के लिए इस पंक्ति को लिया जा सकता है-

` मोम सा तन घुल चुका, अब दीप-सा मन जल चुका है`

इसमें घुलने और जलने के व्यापार द्वारा पिघलती हुई मोमबत्ती और जलते हुए दीपक का बिम्ब प्रत्यक्ष हो उठता है; जिससे विरह की व्याकुलता एवं वेदना की व्यंजना होती है। इसी प्रकार `दीपशिखा` की ही एक अन्य कविता कवयित्री की वेदना को अभिव्यक्ति करने में समर्थ हुई है-

` धूप- सा तन दीप- सी मैं।

उड़ रहा नित एक सौरभ- धूमलेखा में बिखर तन,

खो रहा निज को अथक आलोक- सांसों में पिघल मन,

इसमें कवयित्री ने अपनी शरीर की तुलना धूप से की है। जिस प्रकार `धूप` का अपना अस्तित्व सुगन्ध और धुएं के रूप में बिखर कर रह जाता है,उसी प्रकार कवयित्री भी अपने अस्तित्व को विनष्ट कर देना चाहती है, किन्तु सुगन्ध के रूप में कीर्ति की भी

आकांक्षा रखती हैं। कवयित्री का अपना मन ` दीपक ` के समान है, जो दूसरों का मार्ग आलोकित करने के लिए अपने व्यक्तित्व की इतिश्री कर देता है।

महादेवी जी ने कुछ स्थलों पर चित्रोपम बिम्ब की संरचना की है, जिसमें प्राय: प्रकृति का चित्रांकन हुआ है। ऐसे बिम्बों में कल्पना का मूर्त रूप उद्भूत हुआ है। उदाहरण के लिए `रश्मि ` की यह कविता प्रस्तुत है-

` अवनि- अम्बर की रुपहली सीप में,
तरल मोती - सा जलधि जब कांपता,
तैरते घन मृदुल हिम के पुंज से,
ज्योत्स्ना के रजत- पारावार में;

इसमें अवनि- अम्बर के बीच अवस्थित सागर के लिए रुपहली सीप में तरल मोती का अप्रस्तुत चित्रोपम बिम्ब की संरचना करता है। यहां कवयित्री की उदात्त कल्पना का बोध होता है। धरती और आकाश के दो सम्पुटों में सागर का तरल मोती की तरह स्पन्दित होना और समुद्र में तैरने वाली ` नीहारिका ` के सदृश चांदनी में विरल घन-खण्डों का तैरना एक भव्य बिम्ब की सृष्टि करता है। महादेवी जी ने चित्रोपम बिम्बों की योजना प्राय: सूक्ष्म भावों के गोचर- विधान के लिए की है। किसी वस्तु अथवा व्यापार विशेष के सहारे सूक्ष्म भावों को गोचर- प्रत्यक्षीकरण के स्तर पर ला देना कवि- कल्पना की मूर्ति - विधायिनी शक्ति का द्योतक होता है।

" दीपशिखा " व्यापार-मूलक गोचर- विधान से एक प्रकार से भरी पड़ी है। उदाहरणार्थ-

" यह सपने सुकुमार तुम्हारी स्मिति से उजले "

जैसी पंक्ति में सुकुमार स्वप्न का किसी की स्मिति से उजला होना व्यापारमूलक गोचर - बिम्ब- विधान के अन्तर्गत आता है। इसी प्रकार-

" चाह की मृदु उंगलियों ने छू हृदय के तार
जो तुम्हीं ने छेड़ दी, मैं हूं वही झंकार।"

में " चाह की मृदु उंगलियों "का प्रयोग इसी बिम्ब-विधान के अन्तर्गत आता है। जहां कवयित्री ने सूक्ष्म भावों का गोचर-विधान प्रस्तुत किया है, वहीं मूर्त वस्तुओं को भावात्मक रूप देकर उसका अमूर्त-विधान भी किया है। कल्पना की इस दुर्लभ प्रक्रिया का प्रयोग महादेवी जी ने अपनी रचनाओं में किया है। उदाहरण के लिए " सान्ध्यगीत " की निम्नलिखित पंक्तियां प्रस्तुत हैं-

" सुधि तेरी अविराम रही जल,
पद ध्वनि पर आलोक रहूंगी वारती।"

इसमें किसी की सुधि में तिल- तिल कर जलने वाले व्यक्ति की व्यंजना के लिए सुधि के ही जलने का प्रयोग किया गया है, जो मूर्त वस्तु के अमूर्त- विधान की प्रक्रिया को द्योतित करता है तथा इससे अविराम रूप से जलते हुए " दीपक " का बिम्ब भी प्रत्यक्ष हो उठता है।

महादेवी जी के बिम्बों को प्रतीकात्मक बिम्ब कहना अधिक संगत होगा। उनकी परवर्ती रचनाओं में ये बिम्ब बार- बार प्रयुक्त हुए हैं, जिससे उनका मूर्त रूप विलीन हो गया है। इसीलिए उनके काव्य में सूक्ष्म की भावना का बाहुल्य है। ' आधुनिक कवि ' की भूमिका में उन्होंने स्वयं स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि-

" मेरी कविता यथार्थ की चित्रकत्री न होकर स्थूलगत सूक्ष्म की भावुक है।"

महादेवी वर्मा ने अपने बिम्ब-विधान के लिए मुख्यत: दो क्षेत्रों को चुना है- प्रकृति तथा नारी - जगत्। इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत के कवियों जैसे कालिदास, वाल्मीकि आदि के प्रभाव से कुछ संस्कारी बिम्ब की भी संरचना की है। प्रकृति- चित्रण के लिए उन्होंने प्राय: उन्हीं दृश्यों को स्वीकार किया है जिसे अन्य छायावादी कवियों ने ग्रहण किया है। जैसे- सन्ध्या, प्रभात, रजनी, बसन्त, पावस आदि। महादेवी वर्मा ने अन्य कवियों की लीक से हटकर इनका वर्णन सूक्ष्मता के स्तर पर किया है। प्रभात वर्णन के लिए जहां एक तरफ उन्होंने ' रश्मि ' में इस तरह का बिम्ब-विधान प्रस्तुत किया है-

" चुभते ही तेरा अरुण बाण।
बहते कन- कन से फूट- फूट
मधु के निर्झर से सजल गान।"

इसमें प्रात:कालीन सूर्य की स्वर्णाभ किरणों का बिम्ब-विधान

संयोजित है, जिसे ( अरुण सूर्य ) कवयित्री ने " बाण " के प्रतीक द्वारा अभिव्यंजित किया है। इसमें यह दिखाया गया है- कि प्रथम किरणों के पृथ्वी पर उतरते ही सृष्टि के समस्त जीव-जन्तु सक्रिय हो उठते हैं, भौंरे गुंजार करने लगते हैं, विहग कलरव कर उठते हैं- मानो सृष्टि के कण- कण से संगीत का निर्झर फूट पड़ा हो।

वहीं दूसरी तरफ प्रभात- वर्णन के लिए जिस रूपक का प्रयोग किया गया है, वह है नारी- जगत् की जानी- पहचानी वस्तुएं। उदाहरण के लिए यह पंक्ति ली जा सकती है-

" रजनी ने मरकत वीणा पर हंस किरणों के तार संभाले "

इसमें " मरकत " की वीणा पर किरणों का तार संभाले हुए नायिका 'रजनी' के रूपक का प्रयोग हुआ है। इसमें सूर्योदय का दृश्य तत्काल समझ न आकर वीणा संभाले हुए एक नायिका का बिम्ब उभरता है। अर्थ के गर्भ में पहुंचने पर प्रातःकाल का बिम्ब बनता है। इस प्रकार अनुभूति के स्तर पर महादेवी के बिम्ब अन्तर्मुखी अधिक हैं। इस सन्दर्भ में श्री केदारनाथ सिंह का विचार उद्धृत किया जा सकता है-

" वे अपनी अनुभूति क्षेत्र से बाहर निकलकर जीवन और प्रकृति के वृहत्तर क्षेत्रों में जाने का प्रयास बहुत कम करती हैं। उनके बिम्बों में अपरिचयजन्य आघात देने की क्षमता कम और आत्मीयतापूर्ण सह-अनुभूति जगा सकने की सामर्थ्य अधिक है। "[1]

महादेवी जी की कविताओं में बिम्ब-संघटन का स्वरूप लगभग

---

१- महादेवी : केदारनाथ सिंह- सम्पा०- परमानन्द श्रीवास्तव, पृ०-४२

एक जैसा ही है। उनके अधिकांश बिम्ब रूपकात्मक या प्रतीकात्मक कहे जा सकते हैं। उनका गीत एक पूरे बिम्ब का ही एहसास कराता है। उनके गीतों के चित्र अलग - अलग घनीभूत रूप में पाठक के समक्ष उभरते रहते हैं; किन्तु कहीं - कहीं उन बिम्बों का स्वरूप ऐसा हो जाता है, जहां वे अर्थ को स्पष्ट करने की जगह उसे और उलझा देते हैं। उदाहरण के लिए " मैं नीर भरी दुःख की बदली " की प्रारम्भिक पंक्तियां देखी जा सकती हैं-

" स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हंसा,
नयनों में दीपक से जलते,
पलकों में निर्झरिणी मचली।

मेरा पग- पग संगीत भरा,
श्वासों से स्वप्न- पराग झरा,
नभ के नवरंग बुनते दुकूल,
छाया में मलय - बयार पली।
— सान्ध्यगीत

इसमें आए हुए अनेक बिम्बों— क्रन्दन पर संसार का अट्टहास, नैनों में दीपक के जलने, पलकों में निर्झरिणी के मचलने, पैरों में संगीत भरी थिरकन, सांसों से झरते हुए स्वप्न- पराग से उलझते- उलझते पाठक कवयित्री के मुख्य वक्तव्य " मैं नीर भरी दुःख की बदली " से दूर हट जाता है तथा बिना सम्बन्ध के प्रयुक्त ये बिम्ब एक- दूसरे से

परस्पर मेल नहीं खाते हैं। इस कविता की अंतिम पंक्ति " उमड़ी कल थी मिट आज चली।" ही वास्तविक रूप से प्रथम पंक्ति से जुड़ी हुई है। यही दोनों पंक्तियां कवयित्री के मुख्य अभिप्रेत तक पहुंचाने में समर्थ हैं। इनसे आकाश में छायी हुई घटा और फिर उमड़कर बरस देने वाली बदली का बिम्ब व्यंजित होता है।

किन्तु जहां कवयित्री ने विशेषण-मूलक बिम्बों की सृष्टि की है, वहां स्पष्टता में कोई कमी नहीं आयी है-

" नीरव नभ के नयनों पर
　　　　हिलतीं हैं रजनी की अलकें-- "

इसमें अंधियारी (रजनी की अलकों) का बिम्ब " हिलने " की गत्यात्मक प्रवृत्ति के कारण अर्थबोध कराने में सर्वथा समर्थ है। इसी प्रकार " दीपशिखा " का ही " ओ चिर नीरव " भी विशेषण-मूलक बिम्ब के अन्तर्गत आता है, जिसमें प्रयुक्त मात्र दो विशेषण- "चिर " और " नीरव " पर्वत का बिम्ब-बोध कराने में सर्वथा समर्थ है :-

" ओ चिर नीरव।
मैं सरित विकल
　तेरी समाधि की सिद्धि अकल
　　चिर निद्रा में सपने का पल
　　　ले चली लास में लय- गौरव

— — —

मैं अश्रु - तरल,
-- --
मैं पुलकाकुल,
-- --
मैं चिर चंचल,
-- --
मैं गति विह्वल,
पाथेय रहे तेरा दृग- जल,
आवास मिले भू का अंचल,
मैं करुणा की वाहक अभिनव । "

इस पूरी कविता में नदी के विशेषण के रूप में प्रयुक्त विकल, अश्रु-तरल, पुलकाकुल, गति- विह्वल, चिर- चंचल इत्यादि शब्द विकल सरिता के ऐसे बिम्ब को प्रस्तुत करते हैं जो सैकत को फोड़कर अबाध गति से बह चली हो ।

महादेवी वर्मा ने अपने प्रतीकों को विभिन्न अर्थ सन्दर्भों से संयुक्त कर अनेक व्यंजनागर्भी बिम्बों की रचना की है । प्रतीकात्मकता से युक्त उनके बिम्ब काव्य के श्रेष्ठतम बिम्ब कहे जा सकते हैं । 'दीपशिखा' की यह कविता प्रतीकात्मक बिम्ब के ही अन्तर्गत आती है-

" यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो ।
रजत शंख- घड़ियाल स्वर्ण वंशी - वीणा- स्वर,
गये आरती बेला को शत- शत लय से भर,
जब था कल कंठों का मेला,

जिससे उपल तिमिर था खेला,

अब मंदिर में इष्ट अकेला,

इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो।

—— —— ——

झंझा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्च्छा गहरी

आज पुजारी बने ज्योति का यह लघु प्रहरी

जब तक लौटे दिन की हलचल,

तब तक यह जागेगा प्रतिपल,

रेखाओं में भर आभा-जल

दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो।"

इस पूरी कविता का केन्द्रीय बिम्ब "मंदिर का जलता हुआ दीप" है, किन्तु यह "मंदिर का दीप" व्यंजनागर्भी बिम्ब की श्रेणी में आता है। मुख्य अर्थ मंदिर में जलते हुए दीपक से भिन्न है। इसका सीधा अर्थ उस कृती साधक से है जो अंधकार के गहन घटाटोप में भी अपने अन्दर ज्योति की क्षीण आशा जलाये रहता है। इस अर्थ से पाठक तुरन्त जुड़ जाता है और "मंदिर में जलते हुए दीप" का बिम्ब धुंधला पड़ जाता है; किन्तु इसी कविता की अंतिम पंक्तियाँ में दीपक के बाह्य परिवेश को चित्रित करती हैं तथा जिससे रात्रि की गहराती निस्तब्धता का बोध होता है। अत: "दीपक" इस अर्थ के साथ ( रात्रि की निस्तब्धता ) कहीं - न - कहीं से जुड़ जाता है और मन में निस्तब्ध रात्रि में जलते हुए दीपक का बिम्ब बरबस उभर आता

इसी दोहरी भूमिका के कारण यह प्रतीकात्मक बिम्ब कहा जाता है।

महादेवी जी की रचनाओं में विशृंखल बिम्ब की भी बहुलता है। विशृंखल बिम्बों की विशेषता होती है- एक ही कविता में विविध प्रकार के बिम्बों की संरचना; किन्तु महादेवी जी के इन बिम्बों का गति- सातत्य पाठक के मन में किसी एक निश्चित प्रकार के बिम्ब का स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ पाता। महादेवी वर्मा का नारी-सुलभ संकोच ही, जो उनकी कविताओं में सूक्ष्म भावनाओं की प्रस्तुति का कारण है, इस प्रकार के बिम्बों की सृष्टि के कारक हैं। उनके बिम्बों में मुख्य एवं गौण बिम्बों का परस्पर सम्बन्ध नहीं बन पाया है,जबकि यही बिम्बों की मुख्य विशेषता होती है कि किसी रचना में एक बिम्ब मुख्य ( केन्द्रीय ) हो और शेष उसकी परिपुष्टि के लिए सहायक बनकर आते हैं। महादेवी की रचनाओं में इसी का अभाव मिलता है। पूर्व - उद्धृत उनकी कविता " मैं नीर भरी दुःख की बदली " इसी प्रकार के बिम्बों की कोटि में आती है। इसमें " मैं नीर भरी दुःख की बदली " एक केन्द्रीय बिम्ब बनकर आया है, किन्तु इसके साथ जो अन्य बिम्ब बनकर आया है, किन्तु इसके साथ जो अन्य बिम्ब निर्मित हुए हैं, वे इसके सहायक न होकर एक अलग प्रकार के बिम्ब की सृष्टि करते हैं। उदाहरण के लिए-

" मेरा पग - पग संगीत भरा,
स्वासों से स्वप्न- पराग झरा,
नभ के नव रंग बुनते दुकूल
छाया में मलय बयार पली। "

पर्तें जमा- सा दिया है।

महादेवी के बिम्बों में इस विशृंखलता का कारण वस्तुतः उनका चित्र- मोह माना जाता है। उनकी काव्य- कला एवं चित्र-कला की भावभूमि तो एक ही है,किन्तु उनकी गतियों में अन्तर है। जैसा कि 'दीपशिखा ' की भूमिका में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है-

" मेरे गीत और चित्र दोनों के मूल में एक ही भाव रहना जितना अनिवार्य है, उनकी अभिव्यक्तियों में अन्तर उतना ही स्वाभाविक। गीत में विविध रूप, रंग, भाव, ध्वनि सब एकत्र हैं; पर चित्र में इन सबके लिए स्थान नहीं रहता। उसमें प्रायः रंगों की विविधता और रेखाओं के बाहुल्य में भी एक ही भाव अंकित हो पाता है।"

इस प्रकार उनकी चित्र-कला काव्य- कला की अपेक्षा भाव-व्यंजकता में अक्षम है और उसकी यही अक्षमता काव्य-बिम्बों की विशृंखलता का कारण बनती है। महादेवी की रचनाओं में अनेक प्रकार के बिम्ब उपलब्ध हैं। अपने प्राथमिक धरातल पर बिम्ब ऐन्द्रिय-प्रभावों की प्रतिकृति माने जाते थे। अतः इस दृष्टि से भी उनकी रचनाओं में बिम्बों के स्वरूप पर थोड़ा प्रकाश डाल देना आवश्यक है। उनकी रचनाएं विशेषतः चाक्षुष- बिम्ब, श्रव्य- बिम्ब एवं स्पर्श-बिम्ब की सृष्टि करती हैं। चाक्षुष- बिम्बों की संरचना के लिए उन्होंने प्रकृति का आश्रय लिया है। ' नीरजा ' में 'वसन्त की रजनी' को उन्होंने नायिका के बिम्ब में बांधा है-

" धीरे- धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त - रजनी।

तारकमय नव वेणी- बन्धन,

शीशफूल कर शशि का नूतन,

रश्मि- वलय सित घन- अवगुण्ठन,

मुक्ताहल अभिराम बिछा दे

चितवन से अपनी ।

पुलकती आ वसन्त - रजनी ।"

इसमें नवआभरणों से अपने अंग- प्रत्यंग को सुसज्जित किए हुए एक नायिका का बिम्ब प्रतिपादित होता है, जो दिशि से धीरे- धीरे उतरती हुई पृथ्वी पर आ रही है। इसी प्रकार एक अन्य कविता सहज एवं प्रत्यक्ष रूप मे बिम्ब- सम्प्रेषण में समर्थ हुई है-

" रूपसि तेरा घन- केश- पाश ।

श्यामल- श्यामल, कोमल- कोमल

लहराता सुरभित केश- काश ।"

इसमें किसी रूपसी नायिका के काले, घुंघराले एवं लम्बे खुले हुए बालों का सौन्दर्य बिम्ब - रूप में प्रत्यक्ष हो उठता है। इन सहज बिम्बों के अतिरिक्त भी कुछ जिज्ञासामूलक एवं रहस्यपरक चाक्षुष- बिम्बों की निर्मिति महादेवी जी ने की है। उदाहरण के लिए 'रश्मि' की यह कविता प्रस्तुत है-

" शून्य नभ पर उमड़ जब दुःख भार- सी

नैश तम में, सघन छा जाती घटा,

बिखर जाती जुगनुओं की पांति भी

जब सुनहले आंसुओं के हार - सी ;

तब चमक जो लोचनों को मूंदता,

तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ?`

इसमें तिमिर मेघाच्छन्न रजनी के बीच साधारण- सी चमकती हुई बिजली को व्यंजित करने के लिए कवयित्री ने जिज्ञासामूलक रहस्य का आरोप करके उसे अत्यन्त विशिष्ट बना दिया है।

इसी प्रकार श्रव्य- बिम्ब की सृष्टि करने में भी कवयित्री काफी सफल हुई हैं। यद्यपि उनमें निराला और पंत जैसा गम्भीर नाद का स्वर नहीं मिलता; और जो मिलते हैं वे उतनी उदात्त-सृष्टि नहीं कर पाते। उनके इस प्रकार के बिम्बों में प्रायः अज्ञात द्वारा छेड़ी हुई संगीत की ध्वनि ही भाषित हो पाती है। जैसा कि `रश्मि` की `कौन है ?` शीर्षक कविता से व्यक्त होता है-

` कुमुद- दल से वेदना के दाग को
पोंछतीं जब आंसुओं से रश्मियां
चौंक उठतीं अनिल के निश्वास छू,
तारिकाएं चकित- सी अनजान- सी;
--- -- --
तब बुला जाता मुझे उस पार जो
दूर के संगीत - सा वह कौन है ?`

इसमें किसी अज्ञात सत्ता द्वारा छेड़ी हुई संगीत की झंकार बिम्बित होती है। महादेवी की यह रहस्यवादिता उनके बिम्बों को छायात्मक बना देती है। फलतः ये बिम्ब कवि की संवेदना को सम्प्रे

करने में असमर्थ होते हैं; किन्तु कहीं - कहीं यही श्रव्य- बिम्ब स्पष्टता के साथ उभरे हैं-

> ` मर्मर की सुमधुर नूपुर ध्वनि,
> अलि- गुंजित पद्मों की किंकिणि,
> भर पद- गति में अलस तरंगिणि,`

` नीरजा ` की ये पंक्तियां ध्वनि- सूचक इन शब्दों-- ` मर्मर,` ` नूपुर- ध्वनि,` `अलि-गुंजार,` ` किंकिणि ` के माध्यम से एक सफल श्रव्य- बिम्ब की सृष्टि करती हैं। रात्रि की निस्तब्धता में मर्मर की ध्वनि, किसी नायिका के पैरों में बंधी हुई पायल की रुन-झुन, भौंरों की गुंजार एवं कंगन की खनक बिना किसी प्रयास के मस्तिष्क में झंकृत हो जाती है।

महादेवी वर्मा की रचनाओं में उनकी संस्कृत-भाषा के ज्ञान का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। संस्कृत के रचनाकारों में जहां उन्होंने भवभूति से ` करुणा ` को ग्रहण किया है,वहीं कालिदास की काव्यभाषा का लालित्य एवं उनके बिम्ब-विधान से प्रभावित रही हैं। महादेवी के आत्म-निवेदनपरक अधिकांश गीतों के बिम्बों में संस्कृत- साहित्य के बिम्बों की झलक मिलती है। उदाहरण के लिए ये पंक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं-

> " भूलती थी मैं सीखे राग
> बिछलते थे कर बारम्बार,

तुम्हें तब आता था करुणेश
उन्हीं मेरी भूलों पर प्यार।"

इन पंक्तियों में कवयित्री प्रिय से वियोग के कारण सीखे हुए रागों को बार-बार भूल जाती हैं। और उनकी इस भूलने की क्रिया पर ही उनके प्रियतम मुग्ध थे। ठीक इसी प्रकार का बिम्ब-विधान "उत्तर मेघ" की निम्नलिखित पंक्तियों में निर्मित होता है, जिसमें यक्ष अपनी विरहिणी प्रियतमा के विषय में "मेघ" से कह रहा है कि उसकी प्रियतमा विरह-विदग्ध होने के कारण अपनी ही रची हुई मूर्च्छना को बार-बार भूल जाती है-

"उत्संगे वा मलिन वसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्रांक विरचित पदं गेयमुद्गातुकामा।
तंत्रीमार्द्रां नयन सलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती।"

छायावादी कवियों में केवल महादेवी वर्मा की ही रचनाओं में प्राचीन बिम्बों की इस प्रकार की छाया मिलती है, वह भी नूतन परिवेश में। जैसा कि कहा जा चुका है, महादेवी जी की भाषा कालिदास की भाषा से प्रभावित है, जिसका कारण कवयित्री का संस्कृत भाषा का गहन अध्ययन है। "सान्ध्यगीत" में महादेवी जी ने एक स्थल पर पुष्पों का लावा बरसने की जिस चाक्षुष-बिम्ब की सृष्टि की है, वह "कालिदास" के "रघुवंश" के एक श्लोक से काफी मिलता-जुलता है। महादेवी जी के कविता का बिम्ब-विधान इस प्रकार हुआ है-

' तारक- लोचन से सींच - सींच
नभ करता रज को विरज आज ।
बरसाता पथ में हरसिंगार
केशर से चर्चित सुमन- लाज ।। ' — सान्ध्यगीत

तथा अर्थ के स्तर पर इससे मेल खाती हुई ' रघुवंश ' की ये पंक्तियाँ उद्धृत हैं-

' मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमाराद्भिवर्तमानम् ।
अवाकिरन्बाल लता: प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्या: ।। '
—रघुवंश, द्वितीय सर्ग

इन पंक्तियों में विजयी राजा पर लाजा बरसाने वाली प्रसून वत्सला लतिकाओं को पौरकन्याओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

महादेवी जी ने वस्तुओं और व्यापारों की संश्लिष्ट योजना के द्वारा अनेक बिम्बों की सृष्टि की है। सामान्यत: इस प्रकार के बिम्बों में अस्पष्टता नहीं होती; किन्तु महादेवी जी के बिम्ब-विधान इस संश्लिष्ट - योजना के रहते हुए भी प्राय: अस्पष्ट ही होते हैं। इसका कारण है- महादेवी जी का मानसिक- वृत्ति जैसी सूक्ष्मता को भी संश्लिष्ट-योजना द्वारा व्यंजित करना ; साथ ही उनका छायावादी काव्य के व्यक्त प्रतीकों का प्रयोग न कर उनकी छायाओं को ग्रहण करना। वातावरण के निर्माण के लिए प्रतीकों की इन्हीं अव्यक्त गतियों के माध्यम से उन्होंने एक अस्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया है-

निश्वासों का नीड़, निशा का बन जाता जब शयनागार,
छुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के बन्दनवार।
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आंसू से लिख- लिख जाता है, "कितना अस्थिर है संसार।

जो लाक्षणिकता के प्रति उनके अनावश्यक मोह के कारण अत्यन्त दुरूह हो गया है। इस प्रकार उनके बिम्ब कहीं- कहीं पाठकों को केवल चमत्कृत करके छोड़ देते हैं, यद्यपि उनमें चित्र-भाषा के सभी तत्व मौजूद होते हैं; किन्तु जहां यह अस्पष्टता अधिक सहज और आत्मीय होती है, वहां बिम्बों की छायात्मकता अधिक व्यंजित होने लगती है-

"कौन आया था न जाने
स्वप्न में मुझको जगाने
याद में इन उंगलियों की
है मुझे पर युग बिताने — सान्ध्यगीत

इसमें बिम्ब के रूप में केवल उंगलियों का ही चित्र उभरता है। चूंकि स्वप्न में जगाने वाला अज्ञात है अतः उंगलियों का अस्पष्ट चित्र ही उभरता है; किन्तु इस चित्र की अस्पष्टता जगाने की क्रिया की ऐन्द्रिय अनुभूति के कारण पूरी तौर से प्रभावी बन गयी है।

बिम्बों के इस विवेचन के बिन्दु पर डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी की यह मान्यता भी ध्यान में रखने योग्य है-

अधिकतर आधुनिक पश्चिमी समीक्षक ( आर्किबाल्ड मैक्लीश-

जैसे रचनाकार समीक्षकों को अपवाद मानना होगा। बिम्ब का महत्व उसके चाक्षुण - संवेदन के कारण मानते हैं। बिम्ब में चित्र का भाव आता जरूर है, पर चित्र का दृश्य भाव यहां प्रधान नहीं है, वरन् चित्र का संश्लिष्ट रूप- 'कम्पोजीशन' —होना प्रमुख बात है। इस तरह चाक्षुण पक्ष यानी कि एक दृश्य प्रतिमा का निर्माण कर सकना वस्तुत: बिम्ब-विधान का एक प्रारम्भिक और गौण स्तर है। मुख्य बात यह है कि संश्लिष्ट गठन होने के कारण बिम्ब में उसके विभिन्न तत्वों के बीच सम्पर्क और टकराहट से एक द्वन्द्वात्मक ( डायलेक्टिक ) प्रक्रिया परिचालित होती है, जो अर्थ को विकासशील बनाती है। इस तरह बिम्ब प्रधानत: और अनिवार्यत: एक अर्थ संश्लेषण है और इसलिए रचना में काव्यात्मकता या कि काव्य बनने की मुख्य - प्रक्रिया है।"[१]

इस प्रकार इस मान्यता के अनुसार ऐन्द्रिय अनुभूति से परे महादेवी जी की रचनाओं में बिम्बों का भाव- प्रधान रूप भी बहुतायत से मिलता है। इसमें उपकरणमूलक बिम्ब भी निर्मित हुए हैं। उपकरण-मूलक- बिम्ब का तात्पर्य होता है- चित्र- विशेष की पूर्णता— तद्-विषयक सम्पूर्ण उपकरणों की उपस्थिति के द्वारा सिद्ध होना। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को लिया जा सकता है-

" इन कनक- रश्मियों में अथाह,
लेता हिलोर तम- सिंधु जाग;

---

१- सर्जना और भाषिक संरचना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०-५८

बुद्बुद् से बह चलती अपार,

उसमें विहगों के मधुर-राग;

बनती प्रवाल का मृदुल-कूल, जो क्षितिज रेख थी कुहर- म्लान।`

—रश्मि

इसमें प्रयुक्त हिलोर, बुद्बुद् प्रवाल तथा कूल एवं समुद्र के गुण— `अथाह,` ` अपार ` एवं `बहाव` - इन सभी उपकरणों की प्रस्तुति द्वारा समुद्र का बिम्ब निर्मित होता है।

भावचित्र के लिए डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने जो मत प्रतिपादित किया है, उस पर `नीरजा ` की ये पंक्तियां खरी उतरती हैं। इनमें प्रिय की अनुभूति का बिम्ब अद्वैत- भावना के साथ व्यंजित हुआ है-

` तारक में छवि, प्राणों में स्मृति,

पलकों में नीरव पद की गति,

लघु उर में पुलकों की संसृति,`

इसमें तत्काल एक चाक्षुष- बिम्ब की सृष्टि नहीं होती, वरन् अर्थ के स्तर पर बिम्ब निर्मित होता है। कवयित्री कहती हैं कि उनके प्रिय का अस्तित्व तो उनके अन्दर समाहित है, अतः उन्हें अपना परिचय देने की क्या आवश्यकता ? उसकी छवि तो कवयित्री के नेत्रों में समायी हुई है, उनके प्राण प्रिय की स्मृति को संजोये हुए हैं, उनकी पलकें प्रिय की नीरव पद-गति को पहचानती हैं और उनके हृदय में प्रिय की खुशियों का संसार समाया हुआ है। इस प्रकार प्रिय का सम्पूर्ण

कर जाता है, पुष्प झरते- झरते अपने सुगन्ध से संसार को सुरभित बना जाते हैं तथा एक छोटा- सा दीप बुझते- बुझते भी अन्धकार को प्रकाशित कर जाता है; तात्पर्य यह है कि बादल, दिवस, पुष्प एवं दीपक—ये सभी अपनी अस्तित्व के मिटते - मिटते दूसरों को सुखी कर जाते हैं। यद्यपि इसमें क्रमशः बादलों के बीच उभरता हुआ इन्द्रधनुष, सायंकालीन लालिमा-युक्त आसमान, झरता हुआ पुष्प एवं उसकी सुगन्ध का एहसास तथा निविड अन्धकार में जलते हुए दीपक का चाक्षुष- बिम्ब निर्मित अवश्य होता है, किन्तु अर्थ के स्तर पर स्वयं मिट-मिटकर संसार को सुख प्रदान करने की प्रक्रिया ही इसमें प्रमुख है तथा जो डा० चतुर्वेदी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के आधार पर निर्मित भावचित्र की प्रस्तुति करते हैं।

कवयित्री " सूनेपन " को ही अपना चिर-परिचित स्वीकार करती हैं-

" तुम ही तुम हो और विश्व में
मेरा चिर परिचित सूनापन,
मेरी छाया हो मुझमें लय
छाया में संसृति का स्पन्दन
मैं पाऊं सौरभ-सा जीवन
तेरी निश्वासों में घुल-मिल। "

इन पंक्तियों में कवयित्री ने अपने प्रिय से निवेदन किया है कि

इस संसार में उनके प्रियतम के अतिरिक्त केवल ` सूनापन ` ही उनका चिर-परिचित है। अत: वे अपने प्रिय को अपनी छाया बनाकर अपने अस्तित्व में समाहित कर लेना चाहती हैं; क्योंकि उनका विश्वास है कि उनके प्रिय की छाया में संसृति की सारी स्पन्दनशीलता विद्यमान है। वे अपने प्रिय की सांसों में घुलकर सौरभ- सा जीवन जीना चाहती हैं, सुगन्ध बनकर प्रिय की सांसों में समा जाना चाहती हैं। इसमें घ्राणा या अन्य किसी भी ऐन्द्रिय बिम्ब की सृष्टि नहीं होती; वरन् बिम्ब की सृष्टि के द्वारा अर्थसंश्लेष की निष्पत्ति होती है। ` सूनापन का चिर-परिचित होना ` और `छाया में संसृति का स्पन्दन होना `- ये दोनों ही पंक्तियां अर्थ के स्तर पर भावचित्र निर्मित करती हैं। ` सौरभ- सा जीवन `, `निश्वासों में घुलना ` भी इसी प्रकार के बिम्ब की सृष्टि करता है।

महादेवी जी की रचनाएं इस प्रकार के भावचित्रों से भरी पड़ी हैं। इतना अवश्य है कि उनके गीतों के भाव रहस्यमयता और सूक्ष्म प्रतीक योजना के कारण कहीं अत्यन्त अस्पष्ट हो जाते हैं और कहीं उसके भाव अनायास खुलते चलते हैं। वे कहीं स्वयं को अपने चितेरे प्रिय का चित्र मानने लगती हैं-

" बादलों की प्यालियां भर
चांदनी के सार से,
तूलिका कर इन्द्रधनु
तुमने रंगा उर प्यार से;

काल के लघु अनु से
धुल जायेंगे क्या रंग मेरे ?"

इन पंक्तियों में कवयित्री ने इस भाव की व्यंजना की है उनके चितेरे प्रिय ने बादलों की प्यालियों में चांदनी का सार लेकर, इन्द्रधनुष की तूलिका से उनके हृदय पर प्यार का रंग चढ़ा दिया है। फिर वे स्वयं से प्रश्न करती हैं कि क्या उनकी वेदना प्रियतम के प्रति जगी हुई प्रेम की उस लौ को समाप्त कर सकती है ? इसमें 'हृदय पर प्यार का रंग चढ़ाने की प्रक्रिया' अर्थ को विकासशील बनाती है तथा यह सीधे बिम्ब- सम्प्रेषण में सक्षम न होकर अर्थ की भावभूमि पर बिम्ब की सृष्टि करता है। महादेवी जी की रचनाओं में, जहां ऐसे बिम्बों की सृष्टि हुई है, पाठक को कवयित्री के अभिप्रेत तक पहुंचने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना पड़ता है; क्योंकि कवयित्री की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति इन बिम्बों को पूर्ण रूप से विवृत करने में समर्थ नहीं हो पायी है। पाठक- वर्ग की इस जागरूकता के सन्दर्भ में भी डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है-

" भावचित्र की स्थिति में कवि जिस नये परिवेश का सृजन करता है, उसे ग्रहण करने के लिए पाठक का मन बाधित ( कंडीशंड ) न होकर खुला होना चाहिए और इसके अतिरिक्त उसमें कवि के अभिप्रेत तक पहुंचने के लिए आवश्यक यत्न भी रहना चाहिए। सारा उच्चस्तरीय काव्य इन भावचित्रों के माध्यम से अपने को विवृत करता है और इसी

प्रक्रिया को समझने के लिए जागरूक भावक- वर्ग की अपेक्षा होती है।"[1]

महादेवी की कविताओं में पूजा से संपृक्त बिम्बों की प्रधानता है। वे अपने जीवन को ही पूजामय बनाकर प्रिय की आराधना करती हैं। उनके जीवन के अकूल वेदना-कण ही पूजा के अक्षत एवं नेत्रों से गिरने वाले आंसू ही अर्घ्य हैं-

क्षुद्र शूल अक्षत मुस्मित धूलि चंदन।
अगरु धूम-सी सांस सुधि- गन्ध- सुरभित,
बनी स्नेह- लौ आरती चिर अकम्पित,
हुआ नयन का नीर अभिषेक- जल- कण।"
— दीपशिखा

इन पंक्तियों में, जैसा कि इंगित किया जा चुका है, महादेवी जी प्रिय के प्रति अर्पित पूजा के उपकरणों की व्याख्या करती हुई कहती हैं कि मेरे शूल ( दुःख ) ही प्रियतम की पूजा के अक्षत बन गये हैं और मेरी धूलि ( विरह ) की पूजा का चंदन बन गयी है। प्रिय की सुधि की गन्ध से सुरभित मेरी सांसें ही अगरु- धूम के रूप में प्रस्तुत हैं। कवयित्री के हृदय में अनवरत जलने वाली स्नेह की लौ ही प्रिय के प्रति अर्पित चिर अकम्पित आरती है। उनकी आंखों से गिरने वाले अश्रु ही अभिषेक का अर्घ्य हैं। इस प्रकार इन पंक्तियों में पूजा की सामग्री का एक वाह्य्ण बिम्ब उभरता है, किन्तु भाव की गहराई में जाने पर वह गौण रह जाता है और संश्लेषण द्वारा अर्थ को विकासशील बनाते

---

१- भाषा और संवेदना : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०- ६७

हुए सूक्ष्म बिम्ब-विधान की सृष्टि करता है।

इसी कविता की अगली पंक्तियों में कवयित्री ने प्रिय की पूजा के लिए जिन फूलों की कल्पना की है, वे साधारण फूल न होकर स्वप्न के फूल हैं। कवयित्री के स्वप्न कभी उनकी आशाओं से सुनहले, सजीले, रंगीन, छविमान, हासयुक्त और रोमांचक होते हैं और कभी उनके आंसू रूपी मकरन्द से गीले होते हैं। इन्हीं रंग-बिरंगे पुष्पों को वे अपने प्रिय के प्रति अर्पित करती हैं-

" सुनहले, सजीले, रंगीले, छबीले
हसित, कंटकित अश्रु-मकरन्द गीले
बिखरते रहे स्वप्न के फूल अनगिन।"

— दीपशिखा

इन पंक्तियों में भावात्मक स्वप्न की रंगमयता अनेक वर्णीय फूलों के अप्रस्तुत द्वारा मूर्त हो उठी है। सूक्ष्म भावों के ऐसे बिम्ब विधान के लिए कवयित्री वस्तु के व्यापार- विशेष का सहारा लेती हैं। इस प्रकार के अनुभवगम्य सूक्ष्म भावों को गोचर-प्रत्यक्षीकरण के स्तर पर ला देना कवयित्री के बिम्ब- विधान की विशेषता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि महादेवी जी की रचनाओं में काव्यभाषा के केन्द्रीय- तत्व बिम्ब-विधान को उचित प्रश्रय मिला है।

(ग) महादेवी वर्मा के काव्य में भाषा एवं संवेदना की एकतानता

छायावादी चतुष्टयी की अन्तिम कड़ी के रूप में महादेवी वर्मा का नाम लिया जाता है; किन्तु कुछ दृष्टियों से महादेवी छायावाद की प्रतिनिधि कवयित्री कही जा सकती हैं। काल-क्रम के हिसाब से उनका स्थान अवश्य चौथा है, किन्तु छायावादी संवेदना को रूपायित करने की दृष्टि से जयशंकर 'प्रसाद' एवं महादेवी वर्मा ही प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं; क्योंकि छायावाद जिन विशेषताओं के लिए जाना जाता है, उनका अतिक्रमण इन दो कवियों ने अपने काव्य में नहीं किया है। महादेवी जी तो इस अर्थ में और भी विशिष्ट हैं। जब निराला और सुमित्रानन्दन पंत जैसे माने हुए छायावादी कवियों ने प्रगतिवाद के दबाव में अपनी संवेदना की दिशा को काफी दूर तक बदल दिया था, महादेवी जी प्रारम्भ से अन्त तक अपनी मूल संवेदना के धरातल पर ही बनी रहीं। उनमें अगर परिवर्तन हुआ तो अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता के स्तर पर, भाषा की कलात्मकता के स्तर पर एवं भाव की सहज अभिव्यक्ति के स्तर पर; संवेदना के मौलिक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उनके काव्य का प्रारम्भ जिस प्रेमानुभूति की प्राणवत्ता लेकर हुआ, वही अपने शत- शत फेनोच्छ्वसित रूप में विरह की हजार- हजार भंगिमाओं की अभिव्यक्ति बनकर निर्झर की तरह फूटता रहा। वास्तव में महादेवी का काव्य इस मान्यता को पूरी गहराई से प्रमाणित करता है कि भाषा और संवेदना पृथक्- पृथक् तत्व नहीं हैं और न उनमें पार्थक्य की रेखा खींच पाना सम्भव है।

महादेवी की काव्यभाषा का अध्ययन हम जिन आधारों पर करना चाहते हैं, उनमें से प्रत्येक अलग- अलग इस सत्य को स्थापित करते हैं कि काव्यभाषा का स्वरूप उसकी संवेदना से ही निर्धारित होता है; बल्कि सच तो यह है कि संवेदना ही भाषिक रूप में अभिव्यक्त होती है। भाषा- रूप एवं संवेदना की एकतानता की अभिव्यक्ति महादेवी के बिम्ब- विधान, उनकी प्रतीक-योजना एवं उनके सर्जनात्मक शब्द- प्रयोगों में पूर्ण सहजता से व्यंजित होती है। उनके प्रारम्भिक काव्य में थोड़ा अनगढ़पन है, उनके गीत पूरी सहजता एवं कलात्मक पूर्णता तक नहीं पहुंचते; किन्तु वहां भी इतना तो है ही कि भाषा और संवेदना की एकात्मकता बहुत स्पष्ट है। बिलकुल प्रारम्भिक कविताओं को छोड़ दें और 'नीरजा' के गीतों को भी लें तो यह कथन कई प्रकार से प्रमाणित होता है। 'नीरजा' के विषय में डा० विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है-

'सचमुच 'नीरजा' के विरह, दुःख वियोग और अद्वैतपरक गीतों में एक ऐसी चमक है जो एक साथ मानस को आलोक से परिपूर्ण कर देती है। जैसे रात्रि के तमसाच्छन्न आकाश में उल्का का प्रकाश सहसा फैलकर उजियाले की दिव्य छटा दिखाता है, वैसे ही इन गीतों का आलोक भी; जहां कहीं गंभीर चिन्ता में कवयित्री नहीं उतरी है, वहां काव्य के चरम सौन्दर्य का दर्शन कराता है।'[१]

---

१- महादेवी वर्मा : सम्पा० शचीरानी गुर्टू, 'नीरजा' : एक विश्लेषण, पृ०- १६५

काव्य का यह चरम सौन्दर्य `नीरजा` की भावना एवं संवेदना की एकतानता के कारण ही सम्पन्न हुआ है। जब महादेवी कहती हैं-

> विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात।
> वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास,
> अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात,
> जीवन विरह का जलजात।"

तो इन पंक्तियों में बिम्ब- विधान है जीवन को विरह के जलजात के रूप में अभिव्यक्त करने का; महादेवी की संवेदना को, विरह को उन्होंने कैसे अपने जीवन के प्राणतत्व के रूप में सहज स्वीकार दिया है, बड़े ही स्पष्ट रूप से मंकृत होता है। `जलजात` अपनी उत्फुल्लता, सौन्दर्य एवं सुगन्ध के लिए जाना जाता है तथा विरह एक दंश और पीड़ादायिनी अनुभूति का परिचायक माना जाता है, किन्तु महादेवी ने जीवन को विरह में ही खिले हुए कमल-पुष्प की भांति स्वीकार किया है। उनकी रहस्यवादी संवेदना में विरह केवल दंश नहीं है, वह एक कोमल, मधुर अनुभूति है। इसीलिए वे कह पाती हैं-

> " बीन भी हूं मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं।
> नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूं,
> शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूं,
> फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूं,
> एक होकर दूर तन से छांह वह चल हूं;
> दूर तुमसे हूं अखण्ड सुहागिनी भी हूं।" — नीरजा

इस गीतांश की प्रत्येक पंक्ति विचारणीय है। मैं विरह की वीणा हूं तो उसमें स्वरित होने वाली रागिनी भी हूं। मैं चातक की तृष्णा हूं तो चातक की दृष्टि में ही मेघ-खण्डों को बसाये हुए हूं। निष्ठुर दीपक हूं तो शलभ को अपने प्राणों में भी बसाये हुए हूं। यह सारी प्रतीक-योजना कवि की संवेदना की सहज अभिव्यक्ति है। इसीलिए उन्होंने कहा है-

" तुम मुझमें प्रिय। फिर परिचय क्या ?
तारक में छवि, प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति,
भर लायी हूं तेरी चंचल
और करूं जग में संचय क्या ?
तुम मुझमें प्रिय। फिर परिचय क्या ?"
— नीरजा

इन गीतों के सम्बन्ध में डा० स्नातक की ये पंक्तियां उल्लेखनीय हैं-

" प्रिय की अनुभूति के वर्णन अद्वैत-भावना के साथ 'नीरजा' में स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं। प्रियतम का सान्निध्य पाकर आत्मा अहंकार से तृप्त नहीं होती, वरन् वह बेसुध-सी होकर उसमें तादात्म्य-सुख पाती है, उसे प्रिय-परिचय की आकांक्षा भी नहीं रहती, जग-परिचय की इच्छा नहीं रहती, स्वर्ग और अपवर्ग में लय होने की स्पृहा भी निःशेष हो जाती है।"-1

1- 'नीरजा : एक विश्लेषण, महादेवी वर्मा, सं० शचीरानी गुर्टू, पृ० 158

संवेदना के अनुरूप भाषा की संरचना ` नीरजा ` के प्रकृति-चित्रों में भी अभिव्यंजित हुई है। रात और दिन के वर्णन, विभावरी, बसन्त, रजनी, यामिनी आदि के द्वारा पूरे उत्कर्ष तक पहुंचाये गये हैं। ` नीहार ` और ` रश्मि ` की अनगढ़ता ` नीरजा ` तक आते-आते एकदम दूर हो गयी है। जहां ` नीहार ` में-

` घायल मन लेकर सो जाती,

जो तुम आ जाते एक बार,

मैं अनन्त पथ में लिखती जो,

आदि गीतों में जो उच्छ्वसित विरह वेदना है, ` नीरजा ` तक आते-आते एक विचित्र ` पूजा-भाव ` में परिवर्तित हो जाती है। `नीहार` में बहुत निर्व्याज ढंग से कवयित्री कहती हैं-

" मैं अनन्त पथ में लिखती जो

सस्मित सपनों की बातें

उनको कभी न धो पायेंगी

अपने आंसू से रातें। "

अथवा-

" घायल मन लेकर सो जाती

मेघों में तारों की प्यास,

यह जीवन का ज्वार शून्य का

करता है बढ़कर उपहास। "

उसके स्थान पर " नीरजा " में हम देखते हैं कि महादेवी के गीत एक सहज

समर्पण के भाव से विरह की सप्राणता को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे-

" लय गीत मदिर, गति ताल अमर,
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर।
आलोक-तिमिर सित- असित चीर।
सागर- गर्जन रुनझुन मंजीर;
उड़ता झंझा में अलक- जाल,
मेघों में मुखरित किंकिणि- स्वर।
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर। "

" नीरजा " का यह गीत अपने मानसिक-स्तर पर जिस सम्पूर्ण बिम्ब- विधान से मण्डित है, उसे केवल नृत्य का रूपक भर नहीं कह सकते, बल्कि संवेदना के धरातल पर कवयित्री का मन उस परिपाक पर पहुंच गया है, जहां विरह की मन:स्थिति में नर्तन का यह बिम्ब-विधान उन्हें सहज हो सका है। यह कुछ एक या दो गीतों से ही उदाहरित होने वाली स्थिति नहीं है।

" सान्ध्य- गीत " जिसे महादेवी ने अपनी "यामा " का चतुर्थ याम घोषित किया है, मानसिक-संवेदना की सहज अभिव्यक्ति का उज्ज्वल प्रतिबिम्ब है-

" प्रिय। सान्ध्य गगन,
मेरा जीवन।
यह क्षितिज बना धुंधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,

छाया- सी काया वीतराग,

सुधि-भीने स्वप्न रंगीले घन ।

साधों का आज सुनहलापन,

घिरता विषाद का तिमिर सघन,

सन्ध्या का नभ से मूक मिलन

यह अश्रुमती हंसती चितवन ।"

इन पंक्तियों में जो बिम्ब है, उनका अर्थ के साथ इतना गहरा तादात्म्य है कि उनके सन्दर्भ में महादेवी की ही एक पंक्ति उभर आती है— "एक ही उर में पले, पथ एक से दोनों चले ।" बिम्ब और अर्थ का यह अद्वैत महादेवी के काव्य में जगह- जगह दिखता है, किन्तु "दीपशिखा" में आकर इसका चरम- उत्कर्ष देखने को मिलता है । "दीपशिखा" का बिम्ब महादेवी की साधना से पूर्णतः एक प्राण है । डा० नगेन्द्र ने इसके प्रकाशन को एक घटना माना है । "दीपशिखा के गीतों के संदर्भ में महादेवी जी ने स्वयं लिखा है-

जीवन और मरण के इन तूफानी दिनों में रची हुई यह कविता ठीक ऐसी ही है जैसी भंझा और प्रलय के बीच स्थिर मंदिर में जलने वाली निष्कम्प दीपशिखा ।

जिन दिनों दीपशिखा की रचना हुई थी, छायावाद अपनी गिरावट पर था । निराला और पंत छायावाद की मूल संवेदना

से हटकर प्रगतिवादी प्रभाव में कविता लिख रहे थे; किन्तु महादेवी ने विशुद्ध ऐकान्तिक धरातल पर 'दीपशिखा' के गीतों का प्रणयन किया। ये गीत आत्म-निवेदनात्मक हैं, किन्तु जैसा कि डा० नगेन्द्र ने संकेत किया है, यह आत्म-निवेदन सरल किस्म का नहीं है। उन्होंने लिखा है-

साधारण रूप से यह कह देना कि इनमें अज्ञात के प्रति विरह निवेदन है या रहस्योन्मुख प्रेम की अभिव्यक्ति है अथवा लौकिक धरातल पर कवि की अपनी अतृप्त वासना की प्रेरणा है- प्रश्न को और भी जटिल बना देना है। इस आत्म-निवेदन की प्रकृति को समझने के लिए तो कवि के व्यक्तित्व के विश्लेषण का सहारा लेना पड़ेगा।"[१]

इस प्रकार कवयित्री के व्यक्तित्व विश्लेषण एवं उनके गीतों के अध्ययन के पश्चात् डा० नगेन्द्र ने तीन प्राथमिक धारणायें बनायीं-
"एक; 'दीपशिखा' कवि के अपने मन का प्रतीक है।
दो: 'दीपशिखा' में फारसी की शमआ की तरह ऐन्द्रिय वासना की दाहक ज्वाला नहीं है, वरन् करुणा की स्निग्ध लौ है; जो मधुर-मधुर जलती हुई पृथ्वी के कण-कण के लिए आलोक वितरित करती है। तीन; और इस जलने के पीछे किसी अज्ञात प्रिय का संकेत है जो उसे असीम बल और अकम्प विश्वास प्रदान करता है।"[२]

---

१- महादेवी : दीपशिखा- डा० नगेन्द्र सं०- इन्द्रनाथ मदान, पृ०-२०२
२- -वही- ,, ,, ,, पृ०- २०२

ये तीनों पक्ष ' दीपशिखा ' के गीतों में बहुत गहराई से व्यंजित होते हैं-

लय बनी मृदु वर्तिका

हर स्वर जला बन लौ सजीली,

फैलती आलोक- सी

झंकार मेरी स्नेह- गीली ।'[1]

इन पंक्तियों में संगीत के सुर, दीपक की वर्तिका का लौ के साथ जलना और कवयित्री की जीवन-साधना- ये तीनों धाराएं एक दूसरे में इस प्रकार लय हो गये हैं कि संश्लिष्ट बिम्ब विधान में किसी एक बिम्ब को दूसरे से पृथक् कर पाना न केवल कठिन है, बल्कि बिम्ब और संवेदना की एकात्मता को खण्डित करता है। जब कोई साधक संगीतकार अपने सुर-ताल को सहेजते हुए लय का प्रसार करता है तो उसकी साधना उस दीपक की साधना से तादात्म्य स्थापित कर लेती है जो किसी सूनेपन में फैले अंधकार को अपनी वर्तिका की लौ से मिटाकर प्रकाश का प्रसार करना चाहता है और ये दो साधनाएं जब महादेवी जी के जीवन की मूक साधना के साथ लयमान हो जाती है तो लगता है कि ये पूरा बिम्ब- विधान अर्थ की चरम अन्विति को अपने में धारे हुए हैं।

इस प्रकार की पंक्तियां ' दीपशिखा ' में प्रायः बिखरी पड़ी है। ' दीपशिखा ' के समर्पण गीत में ये पंक्तियां आती हैं-

---

१- दीपशिखा- गीत संख्या- ५

प्यास वह पानी हुई इस पुलक के उन्मेष में।

तथा

शलभ जलकर दीप बन जाता निशा के शेष में।

इन पंक्तियों में अर्थ के अद्वैत की अद्भुत व्यंजना हुई है। प्यास ही पुलक के उन्मेष में जल बन जाये और शलभ जलकर भी अपने उत्सर्ग की चरम परिणति के रूप में स्वयं दीप बन जाये, यह साधना की चरम-सिद्धि है। जैसा कि इन पंक्तियों में उल्लिखित है-

दीपशिखा उनकी अकम्पित, अजस्र साधना की प्रतीक है। दीपशिखा के एक चौथाई गीत दीप की साधना के विभिन्न रूप उपस्थित करते हैं। कभी उच्छ्वलित तूफानी समुद्र, उमड़ती घटाएं, कौंधती बिजलियां, प्रकम्पित दिशाएं उनके साधना-दीप के लिए मंगल-गान गाती हैं; कभी आतंक जड़ित तारों के मुद्रित नयन, सनसनाते ध्वान्त, उन्मत्त आंधी, कड़कती बिजली की हृदय-कम्पी घड़ियों में बुझे दीपक जला कवयित्री दीपक-रागिनी गाती है।[२]

तो कभी कह उठती है-

मैं क्यों पूछूं यह विरह-निशा
कितनी बीती क्या शेष रही,
उर का दीपक चिर स्नेह अतल

---

१- दीपशिखा : गीत संख्या- १

२- दीपशिखा : गीत संख्या- २

सुधि ही शत मंमना में निश्चल
सुख से भीनी दु:ख से गीली
वर्त-सी सांस अशेष रही ।" (-" दीपशिखा " गीत संख्या-३६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि महादेवी के गीतों में, जब वे अपनी संवेदना की संस्कृति से, उसकी थरथराहट से पूरी तौर पर परिचालित होती हैं तो उनकी भाषा उनकी संवेदना से एकतान हो जाती है,जैसा कि हम किसी कवि की भाषा और उसकी संवेदना में एक गहरी एकतानता का अनुभव करते हैं। काव्यभाषा की यह परिणति कवि के उन्हीं क्षणों में सम्भव हो पाती है जब वह अपनी संवेदना में बहुत गहरे तौर पर सक्रिय होता है। इस दृष्टि से महादेवी वर्मा छायावादी कवियों में निश्चय ही सबसे अलग धरातल पर खड़ी हैं। उनका काव्य एक ऐसी वैयक्तिक भूमि पर रचा गया है, जहां भाषा और संवेदना एक रूप हो जाती है। बिम्ब-विधान काव्य-कौशल न होकर संवेदना की चरम निष्पत्ति बन जाता है, इसीलिए महादेवी की सर्जन - प्रक्रिया में कुछ ही बिम्ब बार- बार उमड़ते - घुमड़ते हैं। वे अधिकाधिक बिम्बों का मेला न लगाकर, अपने जीवन की संवेदना की सफल अभिव्यक्ति जिन बिम्बों द्वारा हो सकती है, उन्हीं की विभिन्न अर्थ-छायाओं का उद्घाटन करती हैं। इस प्रकार कविता उनके लिए आत्म-निवेदन का पर्याय बन गयी है। इस सन्दर्भ में डा० इन्द्रनाथ मदान के विचार उल्लेखनीय हैं-

दीपशिखा " में तो साधना के प्रारम्भ से लेकर सिद्धि प्राप्त

करने तक की सभी स्थितियों के दर्शन हो जाते हैं। उन्होंने अपनी साधना का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि मैं दीप के समान अविराम मिटती हुई स्वजन के समीप-सी आ रही हूं। सम्भवत: इसीलिए उनका चितेरा दीपक-तूलिका रखकर सो गया है।[1] ठीक भी है, मिलन का प्रभात आए और कल्पना साकार हो जाये तथा चित्र में प्राणों का संचार हो जाये, तब साधना की पूर्ति के अन्तिम क्षण का आगमन समझ लेना चाहिए। इस प्रकार पीड़ा उनके काव्य में साधना का माध्यम रही है, जिसके द्वारा वे मिलन की स्थिति तक पहुंचती हैं।"[2]

इस प्रकार महादेवी के गीतों में उनकी भाषा भावों की अनुगामिनी बनकर प्रस्तुत हुई है। कविता की पूर्ण परिणति उसकी सम्वेदना में ही होती है। इस सन्दर्भ में महादेवी ने स्वयं लिखा है-

" साधारणत: हमारे विचार व्यापक होते हैं और भाव संक्रामक; इसी से एक की सफलता पहले माननीय होने में है और दूसरे की पहले संवेदनीय होने में। कविता अपनी संवेदनीयता में ही चिरन्तन है, चाहे युग-विशेष के स्पर्श से उसकी बाह्य रूपरेखा में कितना ही अन्तर क्यों न आ जाय और यह संवेदनीयता भाव-पक्ष ही में अजाय है।"[3]

---

१- " सजल है कितना सवेरा
कल्पना निज देखकर साकार होते
और उसमें प्राण का संचार होते
सो गया रख तूलिका दीपक चितेरा।"

२- महादेवी : डा० इन्द्रनाथ मदान, सम्पा०-शचीरानी गुर्टू, पृ०-८५

३- -वही-" काव्य-कला," - महादेवी वर्मा, सं० इन्द्रनाथ मदान, पृ०-२१

परिशिष्ट :

## सन्दर्भ - ग्रन्थ सूची एवं लेखक का नाम


| ग्रन्थ का नाम | लेखक का नाम |
|---|---|
| १- प्रयोगवादी कवि : एक चेतावनी | डा० देवराज |
| २- छायावाद का पतन | ,, |
| ३- साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य | डा० रघुवंश |
| ४- खड़ीबोली की कविता | अज्ञेय |
| ५- कवि - दृष्टि | ,, |
| ६- आत्मनेपद | ,, |
| ७- तार-सप्तक | ,, |
| ८- हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य | ,, |
| ९- नाट्यशास्त्र | भरतमुनि |
| १०- औचित्य विचार चर्चा | क्षेमेन्द्र |
| ११- अभिज्ञान शाकुन्तलम् | कालिदास |
| १२- रघुवंश | ,, |
| १३- रामचरितमानस | गोस्वामी तुलसीदास |
| १४- साहित्यिक निबन्ध | गणपतिचन्द्र शुक्ल |
| १५- साहित्य- दर्पण | आचार्य विश्वनाथ |

| ग्रन्थ का नाम | लेखक का नाम |
|---|---|
| १६- अभिभाषण | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल |
| १७- हिन्दी साहित्य का इतिहास | ,, |
| १८- चिन्तामणि | ,, |
| १९- जायसी - ग्रन्थावली | ,, |
| २०- रस-मीमांसा | ,, |
| २१- शृंगार प्रकाश | आचार्य भोज |
| २२- साहित्यालोचन | डा० श्यामसुन्दर दास |
| २३- हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां | डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी |
| २४- भाषा और संवेदना | ,, |
| २५- सर्जन और भाषिक संरचना | ,, |
| २६- मध्यकालीन हिन्दी भाषा | ,, |
| २७- कामायनी का पुनर्मूल्यांकन | ,, |
| २८- अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या | ,, |
| २९- काव्य और कला | जयशंकर 'प्रसाद' |
| ३०- झरना | ,, |
| ३१- आंसू | ,, |
| ३२- लहर | ,, |
| ३३- कामायनी | ,, |

| ग्रन्थ का नाम | लेखक का नाम |
|---|---|
| ३४- कविता के नये प्रतिमान | डा० नामवर सिंह |
| ३५- छायावाद | ,, |
| ३६- भगवद्गीता | राधाकृष्णन् |
| ३७- साहित्य का उद्देश्य | प्रेमचन्द |
| ३८- साहित्य सन्दर्भ | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| ३९- मिथक : एक अनुशीलन | डा० मालती सिंह |
| ४०- हिन्दी कविता में बिम्ब विधान | डा० केदारनाथ सिंह |
| ४१- अंधा-युग | डा० धर्मवीर भारती |
| ४२- लालित्य- तत्व | आचार्य हजारीप्रसाद |
| ४३- हिन्दी साहित्य की भूमिका | ,, |
| ४४- प्रबन्ध-प्रतिमा : मेरे गीत और कला | सूर्यकान्त त्रिपाठी `निराला` |
| ४५- पंत और पल्लव | ,, |
| ४६- अनामिका | ,, |
| ४७- परिमल | ,, |
| ४८- गीतिका | ,, |
| ४९- तुलसीदास | ,, |
| ५०- कुकुरमुत्ता | ,, |
| ५१- बेला | ,, |
| ५२- नये पत्ते | ,, |

| ग्रन्थ का नाम | लेखक का नाम |
|---|---|
| ५३- अपरा | सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला |
| ५४- निराला की कविताएं और काव्यभाषा | डा० रेखा खरे |
| ५५- निराला की साहित्य-साधना | डा० रामविलास शर्मा |
| ५६- भाषा और समाज | ,, |
| ५७- सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य | शांति जोशी |
| ५८- सुमित्रानन्दन पंत | सं० शचीरानी गुर्टू |
| ५९- छायावाद : पुनर्मूल्यांकन | सुमित्रानन्दन पंत |
| ६०- पल्लव | ,, |
| ६१- वीणा | ,, |
| ६२- गुंजन | ,, |
| ६३- युगान्त | ,, |
| ६४- स्वर्ण-किरण | ,, |
| ६५- रश्मि-बंध | ,, |
| ६६- जयशंकर प्रसाद | नन्ददुलारे वाजपेयी |
| ६७- आधुनिक साहित्य | ,, |
| ६८- कवि निराला | ,, |
| ६९- हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी | ,, |
| ७०- आधुनिक काव्य : रचना और विचार | ,, |
| ७१- निराला - आत्महंता आस्था | दूधनाथ सिंह |
| ७२- कुकुरमुत्ता : काव्य आभिजात्य से मुक्ति | ,, |
| ७३- निराला अभिनन्दन ग्रन्थ | |
| ७३-(अ) कवि निराला | डा० रामरतन भटनागर |

| ग्रन्थ का नाम | लेखक का नाम |
|---|---|
| ७४- प्रसाद की काव्य-साधना | रामनाथ सुमन |
| ७५- हिन्दी की लम्बी कविताओं का अध्ययन | सं० नरेन्द्रमोहन |
| ७६- सुमित्रानन्दन पंत | डा० नगेन्द्र |
| ७७- रस सिद्धान्त | ,, |
| ७८- मिथक और साहित्य | ,, |
| ७९- विचार और अनुभूति | ,, |
| ८०- प्रसाद जी की कला | बाबू गुलाब राय |
| ८१- सिद्धान्त और अध्ययन | ,, |
| ८२- हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य | डा० रामकमल राय |
| ८३- विवेचनात्मक गद्य | महादेवी वर्मा |
| ८४- नीहार | ,, |
| ८५- रश्मि | ,, |
| ८६- नीरजा | ,, |
| ८७- सान्ध्यगीत | ,, |
| ८८- यामा | ,, |
| ८९- दीपशिखा | ,, |
| ९०- आधुनिक कवि | ,, |
| ९१- महादेवी की रहस्य साधना | विश्वम्भर मानव |
| ९२- महीयसी महादेवी | श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय |
| ९३- साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध | ,, |

| ग्रन्थ का नाम | लेखक का नाम |
|---|---|
| ९४- महादेवी की काव्य-साधना | सत्यपाल 'चुघ' |
| ९५- छायावाद की प्रासंगिकता | रमेशचन्द्र शाह |
| ९६- महादेवी वर्मा—मूल्यांकन | कुमार विमल |
| ९७- पंत और महादेवी | पं० शांतिप्रिय द्विवेदी |
| ९८- पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त | रामधारी सिंह 'दिनकर' |
| ९९- महादेवी अभिनन्दन ग्रन्थ | |
| १००- महादेवी | सं० इन्द्रनाथ मदान |
| १०१- महादेवी वर्मा | सं० शचीरानी गुर्टू |
| १०२- महादेवी | सं० परमानन्द श्रीवास्त |
| १०३- हिन्दी-साहित्य-कोश भाग (२) | |

पत्रिकाएं

१- नया आलोचक
२- निराला और नवजागरण
३- साहित्य
४- हिन्दुस्तानी
५- जागरण
६- अवतरण
७. 'नयी कविता' के सभी अंक